पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी का भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण : 'पुरानी हिन्दी' के विशेष संदर्भ में

[LINGUISTIC VIEW OF PANDIT CHANDRADHAR SHARMA GULERI : WITH SPECIAL REFERENCE TO 'PURANI HINDI']

एम.फिल. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध

शोध निर्देशक
प्रो. नामवर सिंह

शोध सहनिर्देशक
प्रो. रामबक्ष जाट

शोधार्थी
अरविन्द प्रताप सिंह

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

2011

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067

Dated : २६, July, 2011

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation entitled "***Pandit Chandradhar Sharma Guleri Ki Bhashavaigyanik Drishti : 'Purani Hindi' Ke Vishesh Sandarbh Mein (Linguistic View of Pandit Chandradhar Sharma Guleri : With Special Reference to 'Purani Hindi')***" by me is an original work and has not been previously submitted for any degree or any other University/Institution.

Arvind Pratap Singh
(Research Scholar)

Prof. Namvar Singh
(Supervisor)
CIL/SLL & CS/JNU

Prof. Krishnaswamy Nachimuthu
(Chairperson)
CIL/SLL & CS/JNU

Prof. Rambux Jat
(Joint Supervisor)
CIL/SLL & CS/JNU

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

प्रस्तावना i-iv

प्रथम अध्याय : भाषा बहता नीर 1-19

द्वितीय अध्याय : पुरानी हिंदी 20-37

तृतीय अध्याय : खड़ीबोली : म्लेच्छभाषा(?) 38-56

चतुर्थ अध्याय : भाषा और व्याकरण 57-67

पंचम अध्याय : शब्द-कौस्तुभ का कण्ठा 68-83

उपसंहार 84-85

संदर्भ-ग्रंथ सूची 86-88

प्रस्तावना

''नाना शास्त्रों का आलोड़न करने वाला सौ डांड वाली नाव की तरह रूढ़ि के लंगर से जकड़ा नहीं रहता, वह भृंग की तरह रूढ़ि और लोकमत की बाँस की नली को फाड़कर निकल जाता है।'' यह बात चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'सत्यव्रत सामश्रमी' के लिए कही है। पर स्वयं गुलेरी जी के व्यक्तित्व पर भी यह सुभाषित चरितार्थ होता है। उनके व्यक्तित्व में एक अजीब सी रूमानियत है। 'रहस्यवाद' और 'व्यक्तिवाद' वाले अर्थ में नहीं बल्कि स्वच्छंद जीवनदृष्टि के अर्थ में। कुछ-कुछ फक्कड़ाना और मस्तमौला। 'शतपथ ब्राह्मण' पर बात करते-करते उन्हें पंजाबिनों का पूरा कसीदे का बना हुआ सालू और राजपूताने की लूगड़ी ध्यान आ जाती है। चर्चा है 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' के वार्षिक अधिवेशनों की, और प्रारम्भ होता है ऋग्वेद के 'मण्डूकसूक्त' से कि हे मण्डूकों! इस सालाना स्त्रोत में आप में से एक दूसरे की वाणी को, अध्यापक की वाणी को विद्यार्थी की तरह अनुवाद करता है।' काशी के महात्म्य का वर्णन करते-करते वे 'काशी के नूपुर' को भूल नहीं जाते हैं। वे अगर 'एक ब्राह्मण', 'एक सनातनी' हैं तो 'एक कायस्थ', 'एक जैन' भी। 'समालोचक' और 'शब्द-कौस्तुभ का कण्ठा' हैं तो 'भ्रमर' और 'घरघूमन दादा' भी। युद्ध चल रहा हो और लेखक 'कद्दू मजेदार', 'बलूची जालमा' के लिए समय निकाल ले, यह इस रूमानियत के बिना सम्भव नहीं।

यह रूमानियत उन्हें भारतेंदु युगीन लेखकों की जिंदादिली से जोड़ती है। संस्कृत का अगाध पाण्डित्य कहीं भी जीवन के प्रति उनकी उत्फुल्लता को दबा नहीं पाता है। इसका बीज लोकजीवन के प्रति उनके प्रेम में छिपा है। शास्त्र उन्हें वहीं तक ग्राह्य है, जहाँ तक वह लोक की कसौटी पर खरा उतरता हो। 'परम्परा-बोध' और 'ऐतिहासिक विवेक' को वे साथ-साथ ले कर चलते हैं। इसलिए परम्परा से चुना सिर्फ उसे जो अधिक तार्किक हो और अधिक लोकोपयोगी भी। इन बातों का गुलेरी जी के भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से गहरा संबंध है। अपने आत्मपरिचय में उन्होंने लिखा है कि ''मैं संस्कृत बहुत अच्छी तरह जानता हूँ और उच्चतर एवं मौलिक शोध को ध्यान में रखकर मैंने वैदिक, पौराणिक, साहित्यिक एवं वेदान्त विषयक संस्कृत के अंगों का विशिष्ट अध्ययन किया है। मैंने संस्कृत का आरम्भिक अध्ययन प्राचीन पद्धति से किया है जो बहुत ठोस होता है। अंग्रेजी शिक्षा ने मुझे वे औजार प्रदान किए हैं जिनके जरिए पश्चिमी विद्वान प्राचीन भाषा को अनुसन्धान के लिए इस्तेमाल करते हैं।''

गुलेरी जी संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, अवधी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, बंगला और अंग्रेजी भाषाओं के जानकार थे। प्राचीन भाषाओं के पंडित तो वे थे ही, आधुनिक भाषाओं में भी उनकी इतनी गति थी कि स्थान-स्थान पर वे साहित्य के साथ-साथ रोजमर्रा के बोलचाल के उदाहरण भी उद्धृत करते चलते हैं। लेकिन जैसे ही आवश्यकता पड़ती है विद्वत्ता के इस आभामंडल से वे एक क्षण में बाहर निकल आते हैं। उसी 'भृंग' की तरह। 'शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन' लेख में वे कहते हैं कि ''पहले पण्डित बनाने का यत्न किया जाता था, अब मनुष्य बनाने का। पहले भाषा के जानने पर आवश्यक जोर दिया जाता था, अब विषयों पर ध्यान है। लैटिन या ग्रीक या संस्कृत का कोश और व्याकरण की रटाई के भरोसे पढ़ना विद्या की सीमा थी। कितने वर्ष व्यर्थ इस अलूनी सिला को चाटने में बीतते थे। अब भाषा पढ़ाई जाती है तो वह ज्ञान का लक्ष्य नहीं मानी जाती, ज्ञान का साधन मानी जाती है। भाषा 'भाषा' की तरह कान और मुख को सिखाई जाती है, तोते की तरह स्मृति को नहीं ... जो समय शब्दों में बीतता था, वह भावों में लगाया जाता है।'' यही है गुलेरी जी का ऐतिहासिक विवेक। उनके पाण्डित्य की विशेषता उसकी सहजता में है।

गुलेरी जी के भाषा-संबंधी लेखन में सबसे महत्वपूर्ण है **'पुरानी हिन्दी'**। यह निबंध 1921-22 ई. में नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भाग 2, 3 में प्रकाशित हुआ और बाद में 'नागरी प्रचारिणी सभा' से पुस्तकाकार रूप में भी छपा। कहने को तो यह निबंध परवर्ती अपभ्रंश की भाषिक और साहित्यिक विशेषताओं पर केंद्रित है पर वास्तव में यह गुलेरी जी के भाषा संबंधी चिंतन का सार है। यह हिन्दी में अपभ्रंश सम्बन्धी भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन का पहला चरण है। साथ ही साथ इसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के आपसी संबंधों की भी चर्चा है। भाषा और व्याकरण का आपस में क्या रिश्ता है, तत्सम-तद्भव-देशी के बारे में प्रचलित मान्यता कहाँ तक सही है, भाषा का स्वरूप और उसकी प्रकृति, शब्दों की व्युत्पत्ति और उनका लोकग्रहण - इन प्रश्नों पर भी इसमें विचार किया गया है। 'पुरानी हिन्दी' एक विस्तृत निबंध है। गुलेरी जी के भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझने में उनके कुछ दूसरे लेख और टिप्पणियाँ भी सहायक हैं, जैसे -

1. डिंगल (प्रथम प्रकाशन, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 1922 ई.)
2. क्या संस्कृत हमारी भाषा थी? (समालोचक, मई 1904 ई.)

3. योरोपियन संस्कृत (श्री राघवेंद्र, 1905 ई.)

4. यूनानी प्राकृत (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 1920 ई.)

5. जालहंस की सुभाषित मुक्तावली और चंद की षट्भाषा (प्रतिभा, 1919 ई.)

6. कुछ पुराने रिवाज और विनोद (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 1921 ई.)

7. राजाओं की नीयत से बरकत (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 1922 ई.)

8. मारेसि मोहिं कुठाऊँ (प्रतिभा, 1920 ई.)

9. अमंगल के स्थान पर मंगल शब्द (सरस्वती, 1915 ई.)

10. बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण (समालोचक, 1905 ई.)

11. संगीत (मर्यादा, 1911 ई.)

12. हिन्दी व्याकरण (केशवराम भट्ट कृत 'हिन्दी व्याकरण' की समीक्षा, समालोचक, 1904 ई.)

इनके अतिरिक्त 'देवकुल', 'पुरानी पगड़ी', 'झख मारना' 'बनारसी ठग', 'भाषा की भाषा', 'देवानां प्रिय' और 'पुराना ब्यौपार' जैसी टिप्पणियां गुलेरी रचनावली के दोनों खण्डों में बिखरी पड़ी हैं। इस लघु शोध-प्रबंध में 'पुरानी हिन्दी' के साथ-साथ इन लेखों और टिप्पणियों का भी उपयोग किया गया है।

गुलेरी जी के मूल्यांकन के क्रम में प्रायः उनकी कहानियों और निबन्धों की चर्चा होती है। इसीलिए उनके लेखन में 'पांडित्यपूर्ण हास', 'प्रसंगगर्भत्व', 'शैली की विशिष्टता' और 'अर्थगर्भित वक्रता' तो लक्षित की जाती है पर उनका भाषा-चिंतन अलक्षित ही रह जाता है। हाँ, कभी-कभी आदिकाल की चर्चा में उसका उल्लेख भर मिल जाता है।

जबकि यह भाषा-चिंतन ही उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का मूल है। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में जब वे लिख रहे थे, हिन्दी गद्य की अधिकांश विधाएं अपने शैशवकाल में थीं। इसके विपरीत पुरातत्व, इतिहास और भाषाविज्ञान के माध्यम से रोज विचार के नए क्षितिज खुल रहे थे। 'हिन्दी नवजागरण' के अन्य पुरोधाओं की भांति गुलेरी जी भी ज्ञान-विज्ञान की सभी धाराओं से हिन्दी को समृद्ध कर देना चाहते थे। विज्ञान, दर्शन, पुरातत्व, इतिहास सभी विषयों पर उन्होंने गम्भीर और अनुसंधानपूर्ण लेख लिखे। 'समालोचक' के सम्पादक तो वे थे ही। इससे

उनके लेखन में एक विविधता आ गई है। लेकिन उनकी प्रिय पद्धति यही रही है कि एक या दो शब्दों के इर्द-गिर्द ही सारे लेख का ताना-बाना बुना जाए। गुलेरी जी के मूल्यांकन में इस आयाम को भूल न जाना चाहिए।

अपने लेख 'चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और हिन्दी नवजागरण' में नामवर जी ने पद्मसिंह शर्मा के एक पत्र का संदर्भ देते हुए कहा है कि "गुलेरी जी के पांडित्य और प्रतिभा को देखते हुए यह शिकायत सच्ची जान पड़ती है कि उन्होंने अपेक्षा के अनुरूप नहीं लिखा - कहना चाहिए कि कम लिखा; लेकिन 39 वर्ष की अल्प आयु में उन्होंने जितना लिखा वह इतना कम भी नहीं है कि उनका मूल्यांकन केवल सम्भावना के आधार पर किया जाए।"

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध इसी दिशा में एक प्रयास है।

विषय-चयन से लेकर आज इस लघु शोध-प्रबंध की प्रस्तुति तक नामवर जी और रामबक्ष जी के सुझाव ही मेरा पाथेय रहे हैं। लेकिन उन्हें धन्यवाद देने की मेरी सामर्थ्य नहीं। जे.एन.यू. में शोध-लेखन हमेशा से एक 'सामूहिक प्रयास' रहा है। यह लघु शोध-प्रबंध भी उसका अपवाद नहीं है। भारतीय भाषा केंद्र के मेरे मित्रों ने जो कीमती सुझाव दिए, उसके लिए उनका आभार ...

प्रथम अध्याय

भाषा बहता नीर

भाषा बहता नीर

अपने भाषा-चिंतन को गुलेरी जी ने एक रूपक के माध्यम से व्यक्त किया है। वह महत्वपूर्ण रूपक यों है -

''वह (संस्कृत) मानो गंगा की नहर है, नरौने के बांध से उसमें सारा जल खैंच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े-मेढ़े किनारों वाली, छोटी बड़ी, पथरीली, रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिए कैसा कुछ आन्दोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम जान नहीं सकते। सदा इस संस्कृत नहर को देखते-देखते हम असंस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और, फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छंद होकर समतल और सूत के नपे हुए किनारों को छोड़कर जल-स्वभाव से कहीं टेढ़ा कहीं सीधा, कहीं गंदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली, कहीं रेतीली भूमि पर और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है नदी विकृति ... यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूटकर फिर सनातन मार्ग पर आई है।''[1]

भाषा को बाँधने के ये प्रयास संस्कृत तक ही सीमित नहीं रहे। आगे प्राकृतों के समय में भी जारी रहे। ''जैसे पहले गंगाप्रवाह में से संस्कृत का नरौने का बांध बांधकर नपे-कटे किनारों की नहर बना ली गई थी वैसे फिर मागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री की नहरें छाँट ली गई, जिसके किनारे भी संस्कृत की प्रकृति की तरह काटे तराशे गए।''[2] पर भाषा तो भाषा ही ठहरी। वह एक बार फिर जल-स्वभाव से आगे बढ़ चली। ''बांध से बचे हुए पानी की धाराएं मिलकर अब नदी का रूप धारण कर रही थीं। उनमें देशी की धाराएं भी आकर मिलती गईं। देशी और कुछ नहीं, बांध से बचा हुआ पानी है या वह जो नदी मार्ग पर चला आया बाँधा न गया। उसे भी कभी-कभी छानकर नहर में ले लिया जाता था। बाँध का जल भी रिसता रिसता इधर मिलता आ रहा था। पानी बढ़ने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका 'अपभ्रंश' (नीचे को बिखरना) होने लगा।''[3] और इस तरह ''भाषाप्रवाह-सच्ची गंगा-अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के रूप में बहता गया।''[4]

भाषा के विकास को समझने और समझाने के क्रम में विद्वानों ने प्रायः इस तरह के रूपकों का आश्रय लिया है। 'पारिवारिक वर्गीकरण' को एक बार मान्यता मिलने के बाद माता-पुत्री और बहनापे का रूपक इतनी बार प्रयोग किया गया है कि अब वह एक मिथक सा

बन गया है। श्लाइखर का मानना है कि एक सजीव वस्तु की तरह भाषा का अपना जीवन होता है, वह युवा होकर संतति उत्पन्न करती है और वृद्ध होकर विनाश को प्राप्त हो जाती है।[5] इन मान्यताओं के विपरीत गुलेरी जी भाषा की तुलना जल के स्वभाव से करते हैं। जिस तरह 'कितना ही बांध दो जल तो नीचे की ओर रिसता ही है', वैसे ही भाषा को भी एक सीमा तक ही बांधा जा सकता है। इस 'जल-स्वभाव' को समझने के कारण ही वे भाषा के प्रवाह को 'क्षय' या 'ह्रास' नहीं, 'विकास' मानते हैं।

हिन्दी में भाषाचिंतन की जो परम्परा रही है उसने इस रूपक के महत्व को भलीभांति समझा और विकसित किया है। 'हिन्दी शब्दानुशासन' में किशोरीदास वाजपेयी लिखते हैं कि ''प्राकृत जनों की भाषा एक उद्दाम नदी की तरह अपनी स्वतंत्र गति से चलती रहती है; इसी लिए मार्ग बदलती रहती है। साहित्यिक भाषा एक बड़ी नहर समझिए जो कि व्यवस्था में चलती है।''[6] रामविलास शर्मा के अनुसार भी ''भाषा असंदिग्ध रूप से अधिक चंचल और परिवर्तनशील होती है वह वृक्ष से अधिक नदी के समान है।''[7] वैसे भी भाषा-विशेष और कविता के लिए नदी के इस रूपक का प्रयोग स्वयंभू से लेकर कबीर, तुलसी आदि ने किया ही है। अस्तु

वस्तुतः गुलेरी जी के भाषा-चिंतन का उनके परम्परा-बोध से गहरा सम्बन्ध है। वे आधुनिक और वैज्ञानिक विश्लेषण पद्धतियों में प्रवीण थे। फिर भी भाषा और परम्परा के सवाल पर वे 'पूर्वपक्ष' और 'उत्तरपक्ष' को एक दूसरे के सामने खड़ा करते हुए प्रगतिशील तत्वों की पहचान का ही तरीका अपनाते हैं। परम्परा और आधुनिकता का यह संश्लिष्ट बोध ही उनके भाषा-चिंतन के मूल में है। ऐसा क्यों था इसका पता उनके आत्मकथ्य की इन पंक्तियों से लगता है - ''मैंने संस्कृत का आरम्भिक अध्ययन प्राचीन पद्धति से किया है जो बहुत ठोस होता है। अंग्रेजी शिक्षा ने मुझे ऐसे औज़ार दिए हैं जिनकी सहायता से पाश्चात्य विद्वान प्राचीन भाषा को अनुसंधान के लिए इस्तेमाल करते हैं।''[8] यही कारण है कि ऐतिहासिक भाषाविज्ञान (गुलेरी जी के शब्दों में 'तारतम्यात्मक भाषाविज्ञान') की मान्यताओं से भलीभांति परिचित होने के बाद भी वे उसकी विचार-कोटियों का प्रयोग नहीं करते हैं। आदिकालीन भारतीय आर्यभाषा-मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा-नव्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का विभाजन उनके यहां नहीं है। इसके स्थान पर गुलेरी जी संस्कृत-प्राकृत - अपभ्रंश-पुरानी हिन्दी-हिन्दी का प्रयोग करते हैं। मूल भारोपीय भाषा के सवाल को भी उन्होंने स्पर्श नहीं किया है।

पाणिनि, पतंजलि और हेमचंद्र को वे स्थान-स्थान पर उद्धृत करते हैं पर यह जोड़ना नहीं भूलते कि ''व्याकरण के सूत्र कोई नई चीज नहीं बना सकते। वे जो हैं उसी को नियम से रख देते हैं। 'अमुक सूत्र से ऐसा हुआ' इसकी जगह वैज्ञानिक रीति से यही कहना चाहिए कि 'ऐसा भाषा में होता है, उसका उल्लेख अमुक सूत्र में कर दिया गया है।'[9] शास्त्र गुलेरी जी के लिए संदर्भ है प्रमाण नहीं। प्रमाण यह है कि लोक में भाषा का व्यवहार कैसे किया जाता है। लक्षण-शास्त्र को लक्ष्य पर तरजीह देना उन्हें पसन्द नहीं। यह भाषा की लोकवादी और वस्तुनिष्ठ दृष्टि है। इसी वस्तुनिष्ठ दृष्टि के कारण गुलेरी जी लक्षित करते हैं कि संस्कृत मूलभाषा नहीं मंजी, छंटी, सुधरी भाषा है और वह 'अजर अमर तो हो गई किन्तु उसका वंश नहीं चला, वह कलमी पेड़ था।' यही वस्तुनिष्ठता उनकी इस मान्यता में भी दिखती है कि संस्कृत का वंश भले ही न चला हो पर मध्यकाल की भाषाएं ही नहीं वरन संपूर्ण मध्यकालीन बोध ही 'देववाणी' के प्रभामण्डल से हमेशा आक्रांत रहा। प्राकृत का ढचर संस्कृत के आधार पर गढ़ा गया। हेमचन्द्र यों ही नहीं लिख गया कि 'प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।' भाषा और व्याकरण से संबंधित अध्याय में इस विषय पर अलग से चर्चा की गई है।

भारत में भाषाओं के विकास का सवाल थोड़ा सा उलझा हुआ है। भारतीय आर्यभाषाओं के संदर्भ में यह एक आम मान्यता है कि 500 ई.पू. से 1000 ईस्वी तक मध्यकालीन भाषाओं-पालि, प्राकृत (प्राकृतों?), अपभ्रंश (अपभ्रंशों?) का समय रहा। इस मान्यता में यह निहित है कि 500 ई.पू. से संस्कृत का प्रभाव समाप्त हो जाता है। यहाँ से एक विरोधाभास दिखना प्रारम्भ होता है। क्या इस मान्यता का अर्थ यह है कि 500 ई.पू. तक संस्कृत जनभाषा थी और फिर यह स्थान पालि, प्राकृत और अप्रभ्रंश ने ग्रहण कर लिया? तो फिर पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का कोई अस्तित्व पहले से भी था या उनकी उत्पत्ति संस्कृत से ही हुई है - नहर से नदी बनी है? 500 ई.पू. के बाद संस्कृत अगर एक 'साहित्यिक भाषा' बनकर ही रह गई तो पालि, प्राकृत और अपभ्रंश को 'साहित्यिक भाषा' की इस कोटि से कैसे अलगाया जा सकता है? यह सारी समस्याएं दो मूलभूत सवालों से जुड़ी हुई हैं। पहला कि भाषाओं की उत्पत्ति कैसे होती है और दूसरा कि जनभाषा और साहित्यिक भाषा में क्या सम्बन्ध है?

भाषाओं की उत्पत्ति के बारे में एक मत यह है कि आदि या क्लैसिकल भाषाओं के ध्वनि और रूप तत्वों में क्रमशः क्षय, ह्रास और परिवर्तन से परवर्ती भाषाओं का विकास होता

रहा। दूसरा मत यह है कि किसी समाज में एक ही समय में अनेक बोलियों का अस्तित्व होता है, विभिन्न कारणों के संयोग से कोई एक बोली संपर्कभाषा के रूप में विकसित होती है। उसमें साहित्य-रचना होती है और वह परिनिष्ठित रूप ग्रहण करती जाती है। इस विवाद पर अपना मत देते हुए मैक्समूलर ने बहुत पहले ही लिखा था कि "यह धारणा ही गलत है कि सर्वत्र बोलियाँ किसी न किसी साहित्यिक भाषा का अपभ्रष्ट रूप होती हैं। ... विभिन्न बोलियां वस्तुतः साहित्यिक भाषाओं की समानान्तर धाराएं हैं जो अति प्राचीनकाल से प्रवाहमान हैं। इन्हीं धाराओं में से कभी-कभी एक धारा कुछ समय के लिए महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेती है। प्रत्येक साहित्यिक भाषा अनेक बोलियों में से एक बोली होती है। इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन हो जाने पर तुर्की के सुल्तान के भाइयों अथवा क्रीड़ा-सखाओं की भांति अन्य बोलियों का गला घोंट दिया जाता है। इसके विपरीत ये बोलियाँ भी अपनी पूर्ण शक्ति से जीवित रहती हैं, यद्यपि सापेक्षिक दृष्टि से उनका महत्व नहीं रहता। यदि साहित्यिक एवं दरबारी भाषा इन सहयोगिनी बोलियों के सतत संसर्ग से शक्ति नहीं प्राप्त करती तो जनप्रिय भाषा उस पर हावी हो जाती है।"[10]

भाषा की उत्पत्ति के संदर्भ में गुलेरी जी ने कई स्थानों पर हेमचंद्र के उस मत का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है, जिसमें उसने कहा है कि संस्कृत प्रकृति है और प्राकृत उससे उपजी है। अपने प्राकृत भाषाओं के व्याकरण के प्रारम्भ में पिशेल ने हेमचन्द्र के अतिरिक्त मार्कण्डेय(प्राकृत सर्वस्वम्)[i], धनिक (दशरूप की टीका में)[ii] सिंहदेवगणिन् ('वाग्भटालंकार की टीका में)[iii], नरसिंह (प्राकृत शब्द-प्रदीपिका)[iv], प्राकृत चन्द्रिका[v], वासुदेव (कर्पूरमंजरी की संजीवनी टीका में)[vi] और नारायण (गीतगोविन्द की रसिकसर्वस्व टीका में)[vii] के ऐसे ही मतों को उद्धृत किया है, जिनमें कहा गया है कि 'प्राकृत प्रकृति अथवा एक मूलतत्व या आधारभूत भाषा से निकली है और यह आधारभूत भाषा संस्कृत है।'[11]

---

[i] प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्रभवं प्राकृतम् उच्यते।'

[ii] प्रकृतेर आगतं प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम। 2-60

[iii] प्रकृतेः संस्कृताद् आगतं प्राकृतम्।

[iv] प्रकृतेः संस्कृतायास् तु विकृतिः प्राकृती मता।

[v] प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवत्वात् प्राकृतम् स्मृतम्।

[vi] प्राकृतस्य तु सर्वम् एव संस्कृतम् योनिः।

[vii] संस्कृतात् प्राकृतम् इष्टम् ततोऽपभ्रंश भाषणम्।

इनमें से अधिकांश उदाहरण गुलेरी जी के सामने रहे ही होंगे। भाषा से भाषा की उत्पत्ति का यह मत सिर्फ संस्कृत और प्राकृत के बारे में ही प्रचलित न था। एकाधिक स्थानों पर गुलेरी जी ने षट्भाषाओं की चर्चा की है। इन षट्भाषाओं के बारे में लोगों ने कई कल्पनाएं की। (देखें 1919 ई. की प्रतिभा में छपा गुलेरी जी का लेख 'जालहंस की सुभाषितमुक्तावली और चंद की षट्भाषा)[12]। मंख के 'श्रीकंठचरित' की टीका से वे उद्धृत करते हैं कि संस्कृत उससे प्राकृत, उससे उत्पन्न शौरसेनी, उससे मागधी, पहले की तरह पैशाची और देशजा - ये 6 भाषाएं हैं -

''संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा।

ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च।''

यहाँ भी वही समस्या कि हर भाषा अपनी पूर्ववर्ती भाषा से उपजी है। यह मत गुलेरी जी को मान्य नहीं है। 'यह भव या आगत कहना ठीक नहीं।' महाभाष्यकार पतंजलि के हवाले से वे लिखते हैं कि जैसे 'सोने से रूचक बनता है, रूचक की आकृति को मोड़-तोड़कर कटक बनते हैं, कटकों से फिर खैर की लकड़ी के अंगारे के से कुण्डल बनाए जाते हैं, सोने का सोना रह जाता है, वैसे भाषा से भाषा कभी नहीं गढ़ी गई।'[13] यहाँ गुलेरी जी का वह रूपक बरबस ही याद आ जाता है जिसमें वे कहते हैं कि भाषा का प्रवाह नदी की तरह है। नदी से नहर तो निकाली जा सकती है पर नदी से दूसरी नदी निकल पड़े, यह नहीं हो सकता।

गुलेरी जी के अनुसार यह सारी समस्या इसलिए पैदा हुई कि 'प्रकृति शब्द के अर्थ को ठीक तरह से समझा नहीं गया। ''मालूम होता है कि प्रकृति शब्द के अर्थ में भ्रम होने से तत आगतं, तदुद्भवा और तत: आदि की कल्पना हुई। प्रकृति का अर्थ यहाँ उपादान कारण नहीं है। यहाँ 'प्रकृति' शब्द मीमांसा के रूढ़ अर्थ में लिया जाना चाहिए। वहाँ पर प्रकृति और विकृति शब्द विशेष अर्थों में लिए गए हैं। साधारण, नियम, नमूना, माडल, उत्सर्ग इस अर्थ में प्रकृति आता है। विशेष, अलौकिक, भिन्न, अंतरित, अपवाद के अर्थ में विकृति आता है।''[14]

आगे वे लिखते हैं कि ''शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत और महाराष्ट्री की प्रकृति शौरसेनी कहने का यही आशय है कि साधारण नियम उनके संस्कृत या शौरसेनी के-से और विशेष नियम अपने-अपने भिन्न हैं। प्रकृति से जहाँ समानता है, उसका विचार व्याकरणों में नहीं है, जहाँ भेद है वहीं दरसाया गया है। हेमचंद्र ने पहले (महाराष्ट्री) प्राकृत का व्याकरण लिखा। आगे शौरसेनी के विशेष नियम लिखकर कहा - 'शेषं प्राकृतवत्'। फिर मागधी के विशेष नियम लिखकर कहा

– 'शेषं शौरसेनीवत्'। फिर पैशाची का विवेचन करके कहा – 'शेषं शौरसेनीवत्'। यों ही चूलिका पैशाची के नियम विशेष बतलाकर कहा – शेषं प्राग्वत् अर्थात् पैशाचीवत्। अपभ्रंश के विशेष नियम लिखकर लिखा – 'शौरसेनीवत् और उपसंहार में सभी प्राकृतों को लक्ष्य करके लिखा – 'शेषं संस्कृतवत्सिद्धम्'। तो क्या उसका अर्थ यह किया जाए कि यह इन भाषाओं का कुर्सीनामा हुआ? क्या पहली-पहली भाषा जनक हुई और अगली-अगली उससे आगत या उससे उद्भूत? नहीं, साधारण नियम 'प्रकृति' में समझाए गए, विशेष नियम 'विकृति' में। यही प्रकृति और विकृति का प्रकृत अर्थ है।''[15]

एक और उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि ''पाणिनि ने भाषा (व्यवहार) की संस्कृत को प्रकृति मानकर वैदिक संस्कृत को उसकी विकृति माना है, साधारण या उत्सर्ग नियम संस्कृत के मानकर वैदिक भाषा को अपवाद बना दिया है। वहां प्रकृति का उपादान कारण अर्थ मानकर क्या वैदिक भाषा को 'तत आगत' या 'तदुद्भव' कह सकते हैं, उल्टी गंगा बहा सकते हैं?''[16] इस प्रकार गुलेरी जी यह नहीं मानते कि एक भाषा से दूसरी भाषा की उत्पत्ति होती है। वे मानते हैं कि भाषाएं प्राकृतिक रूप में प्रवाहित होती रहती हैं।

उनके अनुसार भाषाओं के प्राकृतिक प्रवाह का मार्ग-क्रम यह है –

(1) मूलभाषा (2) छंदस् की भाषा ——— (3) प्राकृत (5) अपभ्रंश

(4) संस्कृत

पहले ही कहा जा चुका है कि 'आदि भारोपीय भाषा' पर गुलेरी जी कोई विशेष विचार नहीं करते हैं। वह सिर्फ इतना संकेत देते हैं कि आर्यों की कोई मूलभाषा थी और यह निश्चित है कि वह मूलभाषा संस्कृत नहीं थी। मूलभाषा के बाद छंदस् की भाषा या वैदिक भाषा का क्रम आता है जिसे मैक्समूलर और रामविलास शर्मा आदि कई विद्वानों ने बोलचाल की भाषा या उसके अत्यन्त निकट का रूप माना है। चंद्रधर शर्मा गुलेरी भी उसे अकृत्रिम भाषा मानते हैं। वैदिक भाषा की विशेषताओं को लक्षित करते हुए वे कहते हैं कि इस समय तक भाषा को बांधा नहीं गया था और वह प्राकृतिक प्रवाह में बहती रही। इसलिए भाषिक प्रयोग के नियम विशेष कठोर नहीं थे और एक प्रयोग के कई विकल्प मिलते हैं। कई शब्दरूपों और क्रियाओं के एक से अधिक रूप प्रचलन में थे। जैसे वैदिक भाषा में 'देवाः' और 'देवासः', 'देवैः' और 'देवेभिः' दोनों कहने की स्वतंत्रता थी। एक और उदाहरण देते हुए वे कहते है कि 'आह', 'अस्' और

'वध्' धातुओं के पहले (यानी कि वैदिक काल में) पूरे रूप प्रचलित थे। धीरे-धीरे कुछ रूप प्रचलन से बाहर होते गए ओर ये धातु अधूरे रह गए। और तब पाणिनि ने उन्हें उसी अर्थ के और धातुरूपों में मिला दिया और कहा कि 'ब्रू' के कुछ रूपों की जगह 'आह', 'हन्' की जगह 'वध्' और 'भू' की जगह 'अस्' हो जाता है। वैदिक भाषा में सविभक्तिक प्रयोगों के साथ-साथ अविभक्तिक प्रयोग भी देखने को मिलते हैं और कुछेक मामलों में एक विभक्ति के स्थान पर दूसरी विभक्ति के यथेच्छ प्रयोग की स्वतंत्रता थी, जैसे षष्ठी या चतुर्थी के संदर्भ में।

गुलेरी जी कहते हैं कि संस्कृत ने वैदिक भाषा के इस प्राकृतिक प्रवाह में से केवल छाना हुआ पानी ही ग्रहण किया। उसे पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि जैसे वैयाकरण मिले और भाषा नियमबद्ध की जाने लगी। प्रयोगों में विकल्प की स्वतंत्रता समाप्त हो गई। इन नियमों ने पहले तो भाषा में अराजकता समाप्त की फिर धीरे-धीरे यही नियम संस्कृत के लिए जकड़न बनते गए। इससे संस्कृत को एक सुदीर्घ जीवन तो मिला पर वंशवृद्धि की उसकी क्षमता समाप्त हो गई। 'संस्कृत अजर-अमर तो हो गई किन्तु उसका वंश नहीं चला, वह कलमी पेड़ था।'

संस्कृत भाषा का अस्तित्व ही इन नियमों पर निर्भर हो गया यह तथ्य उसके नाम से ही स्पष्ट है। अब संस्कृत 'मँजी, छंटी, सुधरी भाषा' बन गई। पर भाषा का संस्कार कर उसे 'संस्कृत' रूप देने का यह अर्थ नहीं है कि भाषा गढ़ी गयी; अर्थ यह है कि भाषा के कुछ रूप सही माने गए, कुछ अन्य रूपों को मान्यता न दी गयी।[17] इस तरह संस्कृत का जो रूप सामने आया वह उत्तर भारत ही नहीं वरन दक्षिण एशिया के अधिकांश हिस्सों में किसी न किसी रूप में प्रयोग होता रहा। शेल्डन पोलॉक ने अपने अध्ययन में ईसा की पहली सहस्राब्दी में संस्कृत के इस विस्तार और प्रभाव का अध्ययन किया है।[18] इस समय संस्कृत एक बड़े भूभाग में धर्म, राजकाज और शिष्ट-संस्कृति की भाषा के रूप में प्रचलित रही। पर यहाँ हमारा मंतव्य सिर्फ इस तथ्य से है कि आज जिसे हम उत्तर भारत कहते हैं वहाँ संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा थी या नहीं।

अपनी एक टिप्पणी 'क्या संस्कृत हमारी भाषा थी?' में गुलेरी जी लिखते हैं कि ''अवश्य ही पुरैतिहासिक वैदिककाल की बात छोड़ देनी चाहिए, किन्तु यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि ईसवी सन् के प्रारम्भ में संस्कृत सबकी भाषा थी।''[19] इसी लेख में वे यह भी कहते हैं कि क्षेत्र की व्यापकता और भिन्नता से एक ही भाषा से अलग-अलग भेद प्रचलन में रहते हैं। ''आजकल

यदि इंग्लैण्ड में समाचार पत्र ओर रेल, तार न हों तो वहाँ भी कई प्रकार की 'प्राकृत' भाषाएं चल जायं ओर इनके होते भी 'टाइम्स' और 'रस्किन' की जो अंग्रेजी है, वह वेल्स और बार्डरलैंड की अंग्रेजी कभी नहीं है।'' वे मानते हैं कि संस्कृत के समांतर और भी भाषाएं प्रचलन में रही होंगी लेकिन ''साधु भाषा और व्यवहार की भाषा सदा ब्राह्मणों की ही होती है, भेद इतना ही है कि इंग्लैण्ड में ब्राह्मण (साहित्यसेवी) घृणा से नहीं देखे जाते और सदा बदलते रहते हैं, और यहाँ ब्राह्मणत्व जन्म के अधीन है।[20] उनका यह भी तर्क है कि पाली और मागधी ग्रंथों की टीकाएं भी संस्कृत में ही लिखी गई। यह भी उनके अनुसार संस्कृत के प्रचलन का संकेत है।

गुलेरी जी का यह मत थोड़ा उलझाने वाला है। पर जैसा कि हम प्राकृत और अपभ्रंश के प्रसंग में देखेंगे, वे उत्तर भारत की भाषिक जटिलता को समझते हुए एक ही साथ कई भाषाओं, देशभाषाओं और एक ही भाषा के विभिन्न रूपों का प्रचलन स्वीकार करते हैं। किसी समय संस्कृत एक क्षेत्र-विशेष की जनभाषा तो रही ही होगी। लेकिन संस्कृत सबकी भाषा कहने से तात्पर्य यह है कि संस्कृत राज-काज, व्यापार और जनसम्पर्क की भाषा थी। उसमें बड़े पैमाने पर साहित्य रचना भी हो रही थी। संभवत: ऐसी ही परिस्थिति के बारे में सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि ''पाणिनि के समय में 'लौकिक' या प्रचलित संस्कृत का भारतीय आर्य प्रादेशिक बोलियों में सम्भवत: वही स्थान रहा होगा, जो आधुनिक काल में हिन्दी या हिन्दुस्तानी (हिन्दुस्थानी) का है। जनसाधारण सर्वत्र संस्कृत समझ लेता था, फिर चाहे वह पूरब का ही रहा हो।''[21]

एक सवाल यह भी उठता है कि अपने प्रभुत्व के दिनों में संस्कृत का अन्य भाषाओं से क्या संबंध रहा होगा। प्राय: विद्वान यह प्रदर्शित करते हैं कि प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं ने संस्कृत के कौन-कौन से तत्व ग्रहण किए। इसके विपरीत गुलेरी जी ने कई स्थानों पर प्रदर्शित किया है कि लोकजीवन से कट जाने पर अपना जीवनकाल बढ़ाने के लिए संस्कृत ने समय-समय पर इन भाषाओं से कैसे सहायता ली। 'प्रबंधचिंतामणि' के प्रसंग में उन्होंने 'जैन संस्कृत' के कई उदाहरण दिए हैं जो वास्तव में देशभाषा से गढ़े हुए संस्कृत के उदाहरण हैं। जैसे - पाँव छोड़ता है (डरकर भागता है) के लिए 'पादौ त्यजसि', डोरा के लिए संस्कृत 'दवरक', पधारो के लिए 'पादोऽवधार्यताम्, आरती उतारकर - आरात्रिकमुत्तार्य, बाप-वप्ता, फुलावेगा या फूल उपजावेगा-फुल्लावयिष्यसि, करने लगा - कर्तुलग्न, आदि। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में

अपभ्रंश के जो उदाहरण दिए हैं, उनकी संस्कृत व्याख्या 'दोधकवृत्ति में भी ऐसे शब्द मिलते हैं। गुलेरी जी के अनुसार ऐसा इसलिए है क्योंकि ''कितना ही बांध दो, जल नीचे की ओर रिसता ही है। देशी शब्द और वाग्धारा संस्कृत के लिए अछूत न थी, संस्कृत में इतना लोच था कि उन्हें अपना लिया करती।''[22]

धीरे-धीरे भाषा का प्रवाह आगे बढ़ता गया। संस्कृत को इस पद से हटना पड़ा। गुलेरी जी लिखते हैं कि ''पतंजलि के समय में संस्कृत उस अर्थ में भाषा न रही थी जिस अर्थ में पाणिनि ने उसे 'भाषा' कहा है। वह एक 'गो' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंशों का उल्लेख करता है, देवदिण्ण को देवदत्त से पृथक् करता है, दृशि के लिए दसि और कृषि के लिए कसि का प्रयोग होना बतलाता है। ... सो पाणिनि की भाषा, अब 'शिष्टों की भाषा' रह गई थी जिसके जानने में 'धर्म' होता था। पहले बहता पानी था, अब कुआँ खोदने वाले की तरह पहले अपशब्दों की धूल से ढके जाकर फिर शिष्ट प्रयोग के जल से शुद्धि मिलती थी।''[23]

वैदिक और संस्कृत के बाद प्राकृत का क्रम आया। गुलेरी जी ने 'प्राकृत' के वास्तविक अर्थ, उसके स्वरूप और उसके जनभाषा होने या न होने के बारे में भी विचार किया है। उनके अनुसार वैदिक भाषा के जिस प्रवाह को संस्कृत में बांधने का प्रयास किया गया वह प्राकृत में बहता गया। प्राकृत में वैदिक भाषा की तरह विकल्पों की स्वतंत्रता है। जैसे ''वैदिक भाषा में षष्ठी या चतुर्थी के यथेच्छ प्रयोग की स्वतंत्रता थी, वह प्राकृत में आकर चतुर्थी विभक्ति को ही उड़ा गई, किंतु संस्कृत में दोनों, पानी उतर जाने पर चट्टानों पर चिपटी हुई काई की तरह रह गई।' यह उपमा ध्यान देने योग्य है। इस तरह की समानताओं के कारण ही गुलेरी जी का मानना है कि 'वेद या छंदस की भाषा का जितना सातम्य पुरानी प्राकृत से है उतना संस्कृत से नहीं'। वैदिक भाषा और प्राकृत के इस संबंध की ओर पिशेल ने भी संकेत किया है - ''केवल संस्कृत को ही इसका मूल समझना, जैसा कि कई विद्वान समझते हैं और इन विद्वानों में होएफर, लास्सन, भंडारकर, याकोबी भी शामिल हैं, भ्रमपूर्ण है। सब प्राकृत भाषाओं का वैदिक व्याकरण और शब्दों से नानास्थलों में साम्य है और ये बातें संस्कृत में नहीं पाई जातीं।''[24]

संस्कृत और प्राकृत के सम्बन्ध के बारे में गुलेरी जी के मत की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। वे प्राकृत को संस्कृत से उत्पन्न नहीं मानते। 'प्राकृत' के वास्तविक अर्थ, उसके स्वरूप और लोक में उसकी स्थिति के बारे में भी गुलेरी जी ने गहराई से विचार किया है। 'प्राकृत' शब्द

के अर्थ को लेकर भी विवाद है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'प्राकृत' का अर्थ है प्राकृतिक भाषा या जनभाषा। शेष विद्वान 'प्राकृत' से उस भाषा-विशेष का अर्थ लेते हैं जो हमें साहित्यिक ग्रंथों में प्राप्त होती है। पर इस दूसरी तरह की प्राकृत के भी कई भेदोपभेद मिलते हैं। गुलेरी जी 'प्राकृत' के इन दोनों अर्थों को लेकर चलते हैं और इनके बीच स्पष्ट अंतर करते हैं। उनका मानना है कि प्राकृत बोलचाल की भाषा तो थी पर साहित्यिक कृतियों में मिलने वाली प्राकृत को देशभाषा मान लेने की भूल न करनी चाहिए। ''संस्कृत नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पंडिताऊ या नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर प्राकृत-व्याकरण के नियमों से, 'त' की जगह 'य' और 'क्ष' की जगह 'ख' रखकर, सांचे पर जमा कर गढ़ी गई है। वह संस्कृत-मुहाविरों का नियमानुसार किया हुआ रूपान्तर है, प्राकृत भाषा नहीं। हां, भास के नाटकों की प्राकृत शुद्ध मागधी है।''[25] अन्यत्र भी वे यही बात दोहराते हैं कि ''यह कोई न समझे कि जैसी प्राकृत पोथियों में मिलती है वह कभी या कहीं की देशभाषा थी। महाराष्ट्री, मागधी और शौरसेनी नामों से उन्हें वहाँ की देशभाषा नहीं मानना चाहिए।''[26] 'हिन्दी शब्दानुशासन' में किशोरीदास वाजपेयी भी लगभग इसी मत को दोहराते प्रतीत होते हैं, जब वे कहते हैं कि ''एक ही भाषा (प्राकृत - 'द्वितीय प्राकृत') के यों तीन रूप हो गए- (1) उस समय की जनभाषा (2) उस समय की जनभाषा का साहित्यिक रूप - 'पाली' और (3) उस समय की जनभाषा का विकृत साहित्यिक रूप - 'प्राकृत'।''[27]

प्राकृत भाषाओं के बारे में जानकारी का एक बहुत बड़ा स्रोत प्राकृत-व्याकरण हैं पर यहाँ भी गुलेरी जी सावधानी से प्रवेश करने की हिदायत देते हैं क्योंकि ''जिस किसी ने प्राकृत का व्याकरण बनाया, उसने प्राकृत को भाषा समझकर व्याकरण नहीं लिखा। ऐसी साधारण बातों को छोड़कर कि प्राकृत में द्विवचन और चतुर्थी विभक्ति नहीं है, सारे प्राकृत-व्याकरण केवल संस्कृत-शब्दों के उच्चारण में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं इनकी परिसंख्या-सूची मात्र हैं।''[28] इन व्याकरणों में प्राकृत के एकाधिक भेद का वर्णन किया गया है। वररूचि ने प्राकृत के चार भेद माने हैं - महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची। हेमचन्द्र ने इन चारों के अतिरिक्त 'चूलिका पैशाची' को भी प्राकृत का भेद माना है और 'अपभ्रंश' को भी अपने प्राकृत व्याकरण में सम्मिलित किया है। इन भेदों की संख्या बढ़ती ही गई है, मार्कण्डेय ने 'प्राकृतसर्वस्व' में लगभग 15 भेदों की चर्चा की है। इन भेदों में से अधिकांश का नामकरण क्षेत्रीय आधार पर किया गया है। तो क्या ऐसे में इन भेदों को उन्हीं स्थानों की जनभाषा या देशभाषा मान लिया जाना चाहिए?

गुलेरी जी इस भेदोपभेद और नामकरण को कृत्रिम मानते हैं। क्योंकि ''जब प्राकृतों के मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देश नाम रक्खे गए तब उनमें कुछ तो उस देश की प्राकृत भाषा का सहारा लिया गया, कुछ विशेष लक्षण वहाँ की चलित बोली के लिए गए, किन्तु ढचर संस्कृत का ही गढ़ा गया।''[29] पिशेल का मत भी इससे मिलता-जुलता है।[30] साहित्यिक ग्रंथों में प्राप्त प्राकृत-रूप के बारे में किशोरीदास वाजपेयी भी यही कहते हैं कि ''साहित्यिक लोग उस समय संस्कृत के प्रभाव में ऐसे पड़े थे कि प्राकृत को उसी (संस्कृत) की पटरी पर चलाना चाहते थे और संस्कृत से प्रतिद्वन्द्विता भी प्रकट करते थे। उस अनुचित प्रभाव के कारण प्राकृत अपना रास्ता छोड़ कर भटक गई, अपनी चाल छोड़ कर अटपटी हो गई और प्रतिद्वन्द्विता के कारण विकृत हो गई; प्राकृत अप्राकृत हो गई।''[31] संस्कृत के व्याकरणिक ढाँचे को आधार बनाकर जो प्राकृत विकसित हुई, उसकी स्वाभाविकता समाप्त हो गई। इस तथ्य के आधार पर ही कई विद्वानों ने 'प्राकृत' को कृत्रिम भाषा माना है।[32]

व्याकरण-ग्रंथों में प्राकृत के जो भेद मिलते हैं, उनमें कई तो केवल साहित्यिक आवश्यकताओं से उपजे थे। जैसे - मार्कण्डेय ने 'द्राविड़ी' और 'शकारी' को भी प्राकृत के भेदों में गिनाया है। गुलेरी जी मानते हैं कि द्राविड़ी द्रविड़ प्रदेश में बोली जाने वाली कोई भाषा नहीं है अपितु एक गढ़ी हुई अपभ्रंश है। इसी प्रकार शकारी भी कोई अलग भाषा नहीं है, जैसे किसी नाटक का कोई पात्र 'है सो ने' या 'जो है शो' अधिक बोलता हो तो उसकी बोली से वही तकिया-कलाम अधिक आवेगा, वैसी गढ़ी हुई बोली 'शकारी' है। वास्तव में गुलेरी जी का मानना यह है कि प्राकृतों के ये भेद या तो नाम-मात्र को थे या सिर्फ साहित्यिक परंपराओं के निर्वहन के लिए प्रयोग किए जाते थे। ''पुराने काल की प्राकृत-रचना, देशभेद के नियत हो जाने पर, या तो मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में; शौरसेनी, पैशाची आदि केवल भाषा में विरल देशभेद मात्र रह गई, जैसा कि प्राकृत-व्याकरणों में उन पर कितना ध्यान दिया गया है, इससे स्पष्ट है। मागधी अर्धमागधी तो आर्ष प्राकृत रहकर जैनसूत्रों में ही बंद हो गई, वह भी एक तरह की छंदस् की भाषा बन गई।''[33] यानी कि रचनाएं किसी एक ही प्राकृत में होती रहीं ओर आवश्यकतानुसार उनमें क्षेत्रीय उच्चारण आदि का पुट दे दिया जाता था।

इस बनावटी साहित्यिक प्राकृत के मुकाबले शिलालेखों की प्राकृत तत्कालीन जनभाषा को जानने का अधिक विश्वसनीय नमूना है। क्योंकि 'साहित्य की भाषा तो व्याकरण की जानकारी,

मुहाविरों की बदल और कवि-सम्प्रदाय के प्रभाव से बदल जाती है, पोथियों में प्राचीन भाषा की शैली समयानुसार बदलती रहती है, किन्तु पत्थर की लीक पत्थर की लीक ही है।' कुछेक अपवादों को छोड़कर साहित्य की प्राकृत और शिलालेखों की प्राकृत में विशेष सामंजस्य नहीं बैठता। जो लिखित प्राकृत साहित्य के जमे हुए नियम हैं - कहां 'न' और कहां 'ण', कहां 'ख' का 'क्ख' और कहां 'घ', कहां 'त', 'ग' की तगह 'य' ओर कहां 'अ' - सबका भंग, सबका विकल्प, खुदाई की प्राकृत में मिलता है।''[34] यही कारण है कि साहित्यिक प्राकृतों को प्राय: भाषा के स्वाभाविक विकास-क्रम में स्थान नहीं दिया गया है। गुलेरी जी के अनुसार भाषा का अकृत्रिम प्रवाह यह है -

1. छंदस् की भाषा
2. अशोक की धर्मलिपियों की भाषा
3. बौद्धग्रंथों की पाली
4. जैनसूत्रों की मागधी
5. ललित विस्तर की गाथा या गड़बड़ संस्कृत और
6. खरोष्ठी और प्राकृत शिलालेखों और सिक्कों की अनिर्दिष्ट प्राकृत।

उनके अनुसार ये नमूने ''देशभेद के अनुसार नामकरण में किसी एक में ही अन्तर्भूत नहीं हो सकते। बौद्धभाषा संस्कृत पर अधिक सहारा लिए हुए है, सिक्कों तथा लेखों की भाषा भी वैसी है, शुद्ध प्राकृत के नमूने जैनसूत्रों में मिलते हैं।''[35]

प्राकृतों का जो विश्लेषण गुलेरी जी ने किया है, उसमें एक और बिन्दु विशेष महत्त्व रखता है। वह यह कि उस समय प्रचलित भाषाओं या जनभाषाओं में से, किससे हिन्दी का सम्बन्ध जुड़ता है। सैद्धांतिक रूप से यह बात अधिक तार्किक लग सकती है कि खड़ीबोली के मूलक्षेत्र यानी कि मेरठ जिले के आसपास के क्षेत्र में प्रचलित तत्कालीन बोली से ही हिन्दी का सम्बन्ध जुड़ता है। किशोरीदास वाजपेयी ने माना ही है कि जिन प्राकृतों के नाम मिलते हैं, उनके अतिरिक्त भी प्राकृतें प्रचलित रही होंगी। यह सम्भव है कि उनमें साहित्य की रचना न हुई हो। 'कुरुजनपद' में प्रचलित ऐसी ही किसी दूसरी और तीसरी प्राकृत से हिन्दी का सम्बन्ध जुड़ता है। पर यहाँ समस्या यह है कि ऐसी किसी प्राकृत का कोई उदाहरण हमारे सामने है नहीं। सम्भवत: इसीलिए गुलेरी जी ने स्वयं को व्याकरणों आदि में उल्लिखित भेदों तक ही सीमित रखा है।

शौरसेनी का क्षेत्र तो वह था ही 'जो ब्रजभाषा, खड़ीबोली और रेखते की प्रकृतभूमि है।' राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में उस समय के भाषानिवेश और राजा के कविसमाज की जो चर्चा की है, उससे गुलेरी जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक अंतर्वेद, पांचाल और शूरसेन और इधर मरु, अवंती, पारियात्र ओर दशपुर ये 'शौरसेनी' और 'भूतभाषा' के स्थान थे।' इन दोनों प्राकृतों-शौरसेनी और पैशाची (भूतभाषा) से ही हिंदी का सम्बन्ध है। हालांकि विद्वानों ने प्रायः पैशाची को कश्मीर के उत्तरी प्रांत की भाषा ही माना है।

एक भाषा के रूप में प्राकृत ने भी अपना चक्र पूरा किया। एक समय ऐसा जरूर आया जब प्राकृत साहित्य का स्तर ऊँचा उठा और उसने संस्कृत को भी टक्कर दी। राजशेखर ने संस्कृत को कठोर और प्राकृत को सुकुमार कहा और दोनों की तुलना क्रमशः पुरुष और स्त्री से की।[36] 'वज्जालग्ग' की एक गाथा में कहा गया है कि ललित, मधुर अक्षरों वाली युवतीजनवल्लभ और शृंगारिक प्राकृत कविता के सामने संस्कृत को कौन पढ़ेगा?[37] पर जैसे-जैसे प्राकृत जनजीवन से कटती गई उसकी कृत्रिमता बढ़ती गई। उसे व्याकरण के सहारे ही समझा जाने लगा। गुलेरी जी कहते हैं कि ''साहित्य की प्राकृत साहित्य की भाषा ही हो चली थी, वहां 'गत' भी 'गय' और 'गज' भी 'गय', काच, काक, काय (शरीर), कार्य सबके लिए 'काय'। इसमें भाषा के प्रधान लक्षण-सुनने से अर्थबोध-का व्याघात होता था।''[38] मानक कही जाने वाली प्राकृतों में यह समस्या अधिक थी। ''शब्दों के बोधगम्य रूप अपभ्रंश और पैशाची आदि 'घटिया प्राकृतों' में अधिक रह गए। ऊंची प्राकृतों में 'र' उड़कर मूर्ख का भी 'मुक्ख' और मोक्ष को भी 'मुक्ख', उष्ट्र को भी 'उट्ठ' हो जाता है किन्तु अपभ्रंश ओर पैशाची में मुरुख और उष्ट या उष्ट्र भी बच गया है''[39] अपभ्रंश ने दोनों तरह के रूप ग्रहण किए। पहले जो स्थान 'प्राकृत' का था, धीरे-धीरे वह स्थान 'अपभ्रंश' ने ग्रहण कर लिया।

भाषा प्रवाह में अपभ्रंश की स्थिति विशिष्ट मानी जाती है। क्योंकि यह 'भारतीय आर्यभाषा की विश्लिष्ट संश्लिष्ट अवस्था के संधिकाल की सूचना देती है।[40] याकोबी[41] और राहुल सांकृत्यायन[42] के अनुसार अपभ्रंश शब्दकोश के लिए साहित्यिक प्राकृतों पर आश्रित रही और व्याकरण की विशेषताएं उसने देशभाषा से ग्रहण कीं। 1922 ई. तक, जब गुलेरी जी अपने अंतिम निबंधों में से एक 'पुरानी हिन्दी' लिख रहे थे, अपभ्रंश का कम ही साहित्य प्रकाश में आया था। फिर जैसा कि हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में कहते हैं कि ''गुलेरी जी के

प्रबन्ध में ऐसी कई रचनाओं के सम्बन्ध में चर्चा नहीं मिलती, जिनका प्रकाशन उनके जीवन-काल में हो चुका था।"[43] इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि ग्यारहवीं सदी के बाद की अपभ्रंश रचनाओं को गुलेरी जी 'पुरानी हिन्दी' के अन्तर्गत मानते हैं, इसलिए 'अपभ्रंश' पर उन्होंने कम ही चर्चा की है।

गुलेरी जी के अनुसार विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही। अपभ्रंश के उद्‌भव के बारे में अपने रूपक में उन्होंने कहा ही है कि बांध से बचे हुए पानी में देशी की धाराएं मिलती गई और बांध का जल भी रिसता-रिसता उसमें मिलता रहा। पानी बढ़ने से नदी का वेग बढ़ा और उसका 'अपभ्रंश' (नीचे को बिखरना) होने लगा। प्राकृत की तरह अपभ्रंश के भेदों को भी गुलेरी जी वास्तविक नहीं मानते। "जैसे शौरसेनी, पैशाची, मागधी आदि भेदों के होते हुए भी प्राकृत एक ही थी वैसे शौरसेनी अपभ्रंश प्रबल हुई। हेमचंद्र ने जिस अपभ्रंश का वर्णन किया है वह शौरसेनी के आधार पर है।"[44] अन्यत्र भी वे लिखते हैं कि 'अपभ्रंश कई नहीं थे, अपभ्रंश एक देश की भाषा नहीं थी। कहीं-कहीं नहरों का पड़ोस होने से उसे नहर के नाम से भले ही पुकारते हों किन्तु वह देश भर की भाषा थी जो नहरों के समानांतर बहती चली जाती।"[45] वस्तुतः गुलेरी जी का मानना है कि एक समय में एक भाषा ही साहित्यिक और संपर्क भाषा के रूप में प्रभुत्व की स्थिति में रही है। "वैदिक भाषा, सच्ची संस्कृत, सच्ची प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, हिन्दी-देश की एक ही भाषा रही है; पंडितों की संस्कृत, वैयाकरणों या नाटकों की प्राकृत, महाराष्ट्री या ऐसे ही नाम के अपभ्रंश, पश्चिमी राजस्थानी या पुरानी गुजराती या बंगला, गुजराती आदि सब इसकी Side-shows हैं, नट की न्यारी-न्यारी भूमिकाएँ हैं।"[46]

धीरे-धीरे अपभ्रंश में देशज तत्वों का प्रभाव बढ़ता गया और ग्यारहवीं शती के बाद वह 'पुरानी हिन्दी' में परिणत हो गई।

अपभ्रंश पर विचार करते हुए प्रायः विद्वानों ने लोक से उसके जुड़ाव को रेखांकित किया है। यह रेखांकन इस बात पर केंद्रित रहा है कि अपभ्रंश लोकभाषा से साहित्यिक भाषा कैसे बनी[47] और देशभाषाओं का उसमें कितना हस्तक्षेप रहा।[48] गुलेरी जी इस दृष्टि से तो विशेष विचार नहीं करते पर वे अपभ्रंश की लोकप्रियता से परिचित जरूर थे। उदाहरण के लिए वह कहते हैं कि प्राकृत रचनाकारों को क्या आवश्यकता पड़ती थी कि वे बीच-बीच में अपभ्रंश दोहों को

उद्धृत करते हैं। इसका कारण यह था कि ये दोहे सर्वसाधारण में प्रचलित थे, इनसे कथाएं रोचक तो बनती ही थीं, उन्हें सामयिक और स्थानिक रंग भी मिलता था।

इस भाषा प्रवाह पर गुलेरी जी जो चिंतन करते हैं वह पूर्वग्रहों से प्रायः मुक्त रहा है। वे जानते हैं कि कोई भाषा तब तक ही जीवित रहती है, जब तक वह लोक से प्रेरणा लेती रहे। यानी कि भाषा की दीर्घजीविता उसकी लोकोन्मुखता में निहित होती है। जैसे ही वह जनजीवन से कटती है, साहित्यिक ग्रंथों में कैद होकर रह जाती है। उनके भाषा-चिंतन की एक विशेषता यह भी है कि वे संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं के साहित्यकारों और वैयाकरणों की मानसिकता को समझने की भी कोशिश करते हैं। इससे 'मध्यकालीन बोध' को समझने में मदद मिलती है और बहुत सारी पहेलियां सुलझ जाती हैं। यही गुलेरी जी का 'ऐतिहासिक विवेक' है।

अगले अध्याय में पुरानी हिंदी की चर्चा की गई है।

संदर्भ

1. गुलेरी रचनावली खण्ड-2, सं. डा. मनोहरलाल, जगतराम एंड संस, 2009, पृ.19
2. वही, पृ.67
3. वही, पृ.23
4. वही, पृ.67
5. मैक्समूलर, भाषाविज्ञान (द साइंस ऑव लैंग्वेज), अनु. उदयनारायण तिवारी, मोतीलाल बनारसीदास, 1970, पृ.34 से उद्धृत
6. किशोरीदास वाजपेयी, हिंदी शब्दानुशासन, नागरीप्रचारिणी सभा, 1998, पूर्व पीठिका, पृ.3
7. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, 2002, पृ.153
8. गुलेरी जी का यह आत्मकथ्य अंग्रेजी में है और गुलेरी रचनावली, भाग-1 के अंत में संकलित है। (Guleri : In His Own Words, पृ.513-516)
9. गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.110.
10. एफ. मैक्समूलर, भाषाविज्ञान (द साइंस ऑव लैंग्वेज), पृ.45
11. आर.पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, अनु. डा. हेमचन्द्र जोशी, 1958, पृ.1-2
12. गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.191-194
13. गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.68
14. वही।
15. वही, पृ.69
16. वही, पृ.68
17. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ.237
18. पोलॉक ने 1000 ई. के बाद के समय को 'वर्नाक्युलर मिलेनियम' कहा है। इस अर्थ में ईसा की पहली सहस्राब्दी आलोच्य क्षेत्र के संदर्भ में 'कास्मोपोलिटन मिलेनियम' है, जहाँ 'संस्कृत कास्मोपालिटन' का ही प्रभुत्व था। संस्कृत के प्रभाव का अध्ययन मुख्यतः दो आयामों - क्षेत्रीय विस्तार (कॉस्मो) और राजनैतिक प्रभुता (पॉलिस) के अंतर्गत किया गया है। देखें, शेल्डन पोलॉक, द लैंग्वेज ऑव द गॉड्स इन द वर्ल्ड ऑव मेन : संस्कृत, कल्चर एण्ड पावर इन प्रि माडर्न इंडिया, परमानेंट ब्लैक, 2007
19. गुलेरी रचनावली, खण्ड-2, पृ.167
20. वही
21. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, राजकमल प्रकाशन, 2004, पृ.79
22. 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' में सुनीति कुमार चाटुर्ज्या भी इस मत की पुष्टि करते हैं कि संस्कृत ने आवश्यकता पड़ने पर बोलचाल की भाषाओं से नए शब्द लिए। जैसे प्राचीन शब्दों

अश्व, अश्मन् (पत्थर), श्वान, वृष, अवि (भेड़), अनड्वन् या उक्षन् (बैल), वाह या रथ (गाड़ी), रै या राधः (धन-सम्पत्ति), सहः (शक्ति) दम या वेश(घर), द्रु (पेड़), उदन् (पानी), असृक् (खून), अद् (खाना) गृभ = लेना, पकड़ लेना; हन = वार करना, वक्ष = बढ़ना, यज् = पूजा करना; विज्, वेज् = काँपना, पृ-ण् = भरना, पत् = उड़ना और सू = जन्म देना के स्थान पर क्रमशः बोलचाल के घोटक, प्रस्तर, कुक्कुर या कुर्कुर, षण्ड, मेष, बलीवर्द, शकट, धन, बल, वाटिका, वृक्ष, जल, रक्त, खाद्, प्र + आयु, मारय्, वृध्, पूजय्, कम्प, पूरय्, उड्डीय और जनय् शब्द प्रयोग किए गए। और ये ही आधुनिक भारतीय आर्य भाषा में बचे रहे हैं, न कि वैदिक तथा आभाआ के प्रचलित प्राचीन शब्द।' सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृ.79

23. गुलेरी रचनावली-2 पृ.98-99

24. आर. पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ.8

25. गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.25

26. गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.66

27. किशोरीदास वाजपेयी, हिंदी शब्दानुशासन, दूसरे संस्करण पर लेखक का निवेदन, पृ.5

28. गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.21

29. वही, पृ.67

30. ''प्राकृत भाषाएं वास्तव में कृत्रिम और काव्य की भाषाए हैं, क्योंकि इन भाषाओं को कवियों ने अपने काव्यों के काम में लाने के प्रयोजन से, बहुत तोड़-मरोड़ और बदल दिया। किन्तु वह इस अर्थ में तोड़ी-मरोड़ हुई या कृत्रिम भाषाए नहीं हैं कि हम यह समझें कि वे कवियों की कल्पना की उपज हों। ... अवश्य ही ये जनता के द्वारा बोली गई किसी 'भाषा' के आधार पर बनी थी।'' आर. पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ.8

31. किशोरीदास वाजपेयी, हिन्दी शब्दानुशासन, पृ.10

32. 'भाषा और समाज' में रामविलास शर्मा लिखते हैं कि यह एक पुरानी प्रचलित धारणा रही है कि संस्कृत ही बिगड़कर प्राकृत बनी है। यह धारणा सही है। क्योंकि संस्कृत-प्राकृत का मुख्य भेद ध्वनि-सम्बंधी है। संस्कृत से भिन्न प्राकृतें जन-साधारण की स्वतंत्र भाषाएं थी या नहीं, इसकी कसौटी यह है कि उनकी अपनी व्याकरण व्यवस्था और अपना मूल शब्द भंडार है या नहीं। प्राकृतों का शब्द भंडार और व्याकरण मूलतः संस्कृत का है। यदि वे वास्तव में प्राकृतें-बोलचाल की भाषाएं होतीं तो उनमें व्याकरणगत भेद बहुत ज्यादा होते। रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ.177 और पृ.229-230

33. गुलेरी रचनावली, खण्ड-2, पृ.21

इस विषय में हमारे सामने परस्पर विरोधाभासी मतों की भरमार है। मागधी और पैशाची आदि गौण प्राकृतों को तो अधिकांश विद्वानों ने 'कृत्रिम बोलियाँ' स्वीकार किया है। मूल प्रश्न पालि, महाराष्ट्री और शौरसेनी का है। सिल्वां लेवी और हाइनरिख ल्यूडर्स ने पालि को मध्य देश की प्राचीन बोली सिद्ध किया है। सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के अनुसार भी पालि का मगध

प्रदेश से कोई सम्बन्ध नहीं था और वह वास्तव में शौरसेनी से सम्बन्धित एक मध्यदेशीय भाषा है। इसी तरह मनमोहन घोष के अनुसार महाराष्ट्री भी महाराष्ट्र की भाषा न होकर शौरसेनी का ही एक पश्च विकसित रूप थी, जो दक्षिण में ले जायी गई और वहां उसमें स्थानीय प्राकृत के शब्द तथा रूप आ जाने पर उसका वहाँ के साहित्य में उपयोग किया गया। चाटुर्ज्या ने इस मत से भी सहमति जताई है और इस परिघटना की तुलना हिन्दी के 'दकनी' रूप से की है। हालांकि इन मतों के विरोधी मत भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं पर इनसे उस मान्यता को समर्थन मिलता है कि बहुत पहले उदीच्य और उसके बाद से मध्यदेश की भाषा ही भारत-विशेषकर उत्तर भारत में प्रभावी भूमिका अदा करती रही है। (देखें, सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ.102-103, 107 और 188-200)

34. गुलेरी रचनावली, खण्ड-2, पृ.67

35. वही, पृ.21

36. ''परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होई सुउमारो।
पुरुष महिलाणं जेन्तिअमिहन्तरं तेत्तियमिमाणं।।'' (कर्पूरमंजरी)

37. ललिए महुरक्खरए जुबईयणवल्लहे ससिंगारे।
सन्ते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढ़िउं।। (वजालग्ग)

38. गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.24

39. वही, पृ.67

40. नामवर सिंह, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, लोकभारती प्रकाशन, 2006, पृ.58

41. वही

42. दोहाकोश - सरहपाद, सं. और पुनरनुवादक - राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 2014 विक्रमी की भूमिका में।

43. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, 2008, पृ.12

44. गुलेरी रचनावली, खण्ड-2, पृ.24

45. वही, पृ.67

46. वही

47. अपने 'हिस्टॉरिकल ग्रामर ऑव अपभ्रंश' में तगारे ने अपभ्रंश शब्द के इतिहास के माध्यम से इस विकास को दिखाया है। पहले 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग संस्कृत से इतर 'संस्कारच्युत' और भ्रष्ट शब्दों के लिए किया गया, तीसरी सदी के आसपास आभीर जाति की उकारबहुला भाषा का उल्लेख मिलता है। यहाँ तक अपभ्रंश बोली ही थी। चण्ड पहले वैयाकरण हैं जिनके यहां 'अपभ्रंश' का प्रयोग साहित्यिक भाषा के रूप में हुआ है। ग्यारहवीं शताब्दी तक यह केवल शिष्ट समाज की भाषा बन चुकी थी और 12वीं सदी से यह भाषा साहित्यिक कृतियों में ही बंद होकर रह गई। बाद में इसका एक ग्राम्य-रूप प्रचलन में रहा। (देखें गणेश वासुदेव तगारे, हिस्टॉरिकल ग्रामर ऑव अपभ्रंश, मोतीलाल बनारसीदास, 1987, भूमिका पृ.4)।

48. अपभ्रंश देशभाषा अर्थात् बोलचाल की भाषा थी या नहीं, इस पर भी विद्वानों में मतभेद है। पिशेल, ग्रियर्सन, भण्डारकर, चटर्जी और वुलनर अपभ्रंश को देशभाषा मानते हैं और याकोबी, कीथ, ज्यूल ब्लाख, अल्सडोर्फ अपभ्रंश को देशभाषा मानने से इंकार करते हैं। (देखें नामवर सिंह, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ.24)

द्वितीय अध्याय

पुरानी हिंदी

पुरानी हिन्दी

बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की कड़ियाँ जोड़ने के प्रयास जोरों पर थे। 1902 ई. में पिशेल के 'माटेरियालिएन त्सुर केंटनिस डेस अपभ्रंश' के प्रकाशन के बाद से अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश की नई-नई कृतियाँ प्रकाश में आ रही थीं। इन कृतियों से उस काम में और मदद मिली। पर इस प्रक्रिया ने एक विचित्र स्थिति पैदा कर दी। एक ही कृति की भाषा पर कई आधुनिक भाषाओं ने अपना दावा पेश किया और उसका नामकरण अपने-अपने अनुसार करने के प्रयास किए। उदाहरण के लिए 1916 ई. में हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' का प्रकाशन कराया और इसकी भाषा को प्राचीन बंगला कहा। बाद में सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और विनयतोष भट्टाचार्य ने भी इसे प्राचीन बंगला ही माना। पर वाणीकान्त काकती और बरुआ ने इसी भाषा को पुरानी असमिया, प्रहराज ओर प्रियारंजन ने प्राचीन ओड़िया, जयकांत मिश्र और शिवनंदन ठाकुर ने पुरानी मैथिली और किसी ने पुरानी मगही कहा।[1] इसी तरह पश्चिमी प्रदेश की भाषा के जो उदाहरण मिले उन्हें प्राचीन राजस्थानी, जूनी गुजराती और प्राचीन गूर्जरी आदि कहा गया।[2]

प्राचीन और पुरानी विशेषण युक्त इन भाषाओं को अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के बीच मात्र एक कड़ी भर ही नहीं माना गया। उसे आधुनिक भाषाओं की जन्मदात्री होने का भी श्रेय दिया गया। जैसे तेस्सितोरी के अनुसार 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी', शौरसेनी अपभ्रंश की पहली सन्तान है और साथ ही उन आधुनिक बोलियों की माँ है जिसे गुजराती तथा मारवाड़ी नाम से जाना जाता है।[3] इन विश्लेषणों को ग्रियर्सन की उस मान्यता से भी बल मिला होगा जिसमें कहा गया था कि हर आधुनिक भारतीय आर्यभाषा अपभ्रंश अवस्था से गुजर चुकी है। पर जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख आए हैं गुलेरी जी का मानना था कि अपभ्रंश कई नहीं थे बल्कि देशभर में एक ही अपभ्रंश नाम की एक ही भाषा का प्रचलन था, जो शौरसेनी अपभ्रंश थी। इसमें थोड़े-बहुत क्षेत्रीय भेद भी प्रचलन में रहे होंगे। वे यह भी मानते थे कि उत्तर-भारत में परम्परा से 'साहित्यिक भाषा' का प्रचलन रहा है। ''कविता की भाषा प्राय: सब जगह एक ही सी थी। जैसे, नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'ब्रजभाखा' कहलाती थी ... पिछले समय में भी हिन्दी कवि संत लोग विनोद के लिए एकआध पद गुजराती या पंजाबी में लिखकर अपनी वाणियां 'भाखा' में लिखते रहे, जैसे कि कुछ शौरसेनी, पैशाची का छींटा देकर

कविता महाराष्ट्री प्राकृत में ही होती थी। ... जैसे अपभ्रंश में कहीं-कहीं संस्कृत का पुट है वैसे तुलसीदास जी 'रामायण' को पूरबी भाषा में लिखते-लिखते संस्कृत में चले जाते है।'[4] कविता की भाषा तो एक समान ही थी, उसमें कवि की अपनी शैली के प्रभाव से या क्षेत्रीय पुट देने के प्रयास में थोड़े बहुत परिवर्तन हो जाते थे। अब ऐसे में यह प्रश्न उठता है कि ''मीराबाई के पद 'पुरानी हिन्दी' कहे जायं या गुजराती या मारवाड़ी? डिंगल कविता गुजराती है या मारवाड़ी या हिन्दी।''[5] और इसीलिए गुलेरी जी का निष्कर्ष है कि ''पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेलकर बनाए गए हैं। भेद बुद्धि दृढ़ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल नहीं।''[6]

यह गुलेरी जी की महत्वपूर्ण मान्यता है कि राजस्थानी, गुजराती और ब्रजभाषा आदि में आज जो भेद हमें दिखाई दे रहा है उसे ग्यारहवीं शताब्दी के बाद की देशीमिश्रित अपभ्रंश में नहीं ढूंढ़ना चाहिए। ऐसा करना न तो ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक होगा और न ही भाषावैज्ञानिक दृष्टि से। जब तेस्सितोरी यह कह रहे होते हैं कि मुग्धावबोधमौक्तिक की रचना के समय तक मारवाड़ी गुजराती से अलग नहीं हुई थी, या जब 'ढोला-मारु रा दूहा' के संपादक यह कहते हैं कि 'उस समय की हिन्दी और राजस्थानी में इतना रूपभेद नहीं हो गया था, जितना आजकल है। यदि यह कहा जाय कि वे एक ही थीं तो अत्युक्ति न होगी। उदाहरणों द्वारा यह कथन प्रमाणित किया जा सकता है'[7], तो वे भी इसी मान्यता की पुष्टि कर रहे होते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार भी ''कभी-कभी एक ही रचना को एक विद्वान पुरानी राजस्थानी कहता है तो दूसरा विद्वान उसे 'जूनी गुजराती' कह देता है। इस पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती में दोनो ही प्रदेशों की भाषा के पूर्वरूप मिलते हैं और प्राकृत और अपभ्रंश का रूप तो इनमें मिला ही रहता है।''[8]

क्षेत्रीय भेदों को प्रदर्शित करने वाले उपरोक्त नामों के बदले गुलेरी जी ने 'पुरानी हिन्दी' नाम का प्रयोग किया है। भाषा के प्रवाह में इसका स्थान अपभ्रंश के बाद था। पुरानी अपभ्रंश 'संस्कृत' और 'प्राकृत' से मिलती है और पिछली 'पुरानी हिन्दी' से। गुलेरी जी के अनुसार विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह 'पुरानी हिन्दी' में परिणत हो गई।[9] इसका विस्तार भी उन्हीं क्षेत्रों में था जहाँ अपभ्रंश का प्रभाव था अर्थात् 'अंतर्वेद, ब्रज, दक्षिणी पंजाब, टक्क, भादानक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, पारियात्र, दशपुर और सुराष्ट्र'।

TH-20368
Jawaharlal Nehru University Library

1922 ई. में जब गुलेरी जी अपना 'पुरानी हिंदी' निबंध लिख रहे थे, तब तक अपभ्रंश का बहुत कम साहित्य प्रकाश में आ पाया था। वे स्वयं लिखते हैं कि 'अभी अपभ्रंश के साहित्य के अधिक उदाहरण नहीं मिले हैं, न उस भाषा के व्याकरण आदि की ओर पूरा ध्यान दिया गया है'। इस परिस्थिति को ध्यान में रखें तो 'पुरानी हिन्दी' के विवेचन के लिए गुलेरी जी ने जिस अंतर्दृष्टि का प्रयोग किया है, उसका महत्व और भी बढ़ जाता है। अपने विवेचन के लिए गुलेरी जी ने जिन कृतियों को आधार बनाया हे, उनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

1. **शार्ङ्गधर पद्धति :** यह शार्ङ्गधर नामक कवि का बनाया गया सुभाषित संग्रह है। इस कवि के वृक्ष-आयुर्वेद और वैदक के ग्रंथ भी प्रसिद्ध रहे हैं। गुलेरी जी ने इसका समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का अंत अर्थात् 1350 ई. के लगभग माना है। 'शार्ङ्गधर पद्धति में कई जगह उस समय की बोलचाल की भाषा के मंत्र, शब्द और वाक्य दिए हैं जो उस समय की हिन्दी के नमूने हैं। गुलेरी जी ने विष का प्रभाव हटाने से लेकर सिंह से रक्षा के लिए प्रयोग होने वाले शाबर मंत्रों को भी यह जानने के लिए इस्तेमाल किया है कि तत्कालीन भाषा का स्वरूप कैसा था।

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में इन्हीं शार्ङ्गधर कवि के 'हम्मीर रासो' का जिक्र किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'शार्ङ्गधर पद्धति से संबंधित जानकारियों के लिए उन्होंने गुलेरी जी का ही अनुसरण किया है। भाषा-चित्र-काव्य का एक उदाहरण दोनों में समान है।

2. **प्रबन्ध चिन्तामणि :** इस ग्रन्थ की रचना जैन आचार्य मेरुतुंग ने 1304 ई. में की थी। 1887 ई. में शास्त्री दीनानाथ रामचन्द्र ने हस्तलिखित प्रतियों से मिलाकर इसका मूल छापा और 1901 ई. में टानी ने और कई मूल प्रतियों की सहायता से इसका अंग्रेजी अनुवाद छापा। गुलेरी जी ने दोनों का ही उपयोग किया है। ग्रन्थ की भाषा संस्कृत है पर बीच-बीच में लेखक ने उस समय की भाषा-कविता के पद्य उद्धृत किए हैं। इन कविताओं को शास्त्री ने 'मागधी' ओर टानी ने 'प्राकृत' समझ लिया था। इनमें कुछ पद्य तो मुंज (कल्पित समय लगभग 1000 ई.) के नाम से मिलते हैं, जिसकी भाषा को शुक्ल जी ने भी 'अपभ्रंश या पुरानी हिंदी के बहुत ही पुराने नमूने' माना है।

गुलेरी जी के अनुसार ''सं.1361 मेरुतुंग के इस 'चिंतामणि' के संग्रह करने का समय है। कोई भी उद्धृत कविता उसने स्वयं नहीं रची है। कथाओं में प्रसंग प्रसंग पर जो कविता उसने दी

है वह अवश्य ही उससे पुरानी है। कितनी पुरानी है इसका ऊर्द्धतम समय तो स्थिर नहीं किया जा सकता, किन्तु 'प्रबन्धचिन्तामणि' की रचना का समय उसका निम्नतम उपलब्धि काल अवश्य है। उससे पचास-साठ वर्ष पहले यह कविता लोककथाओं में प्रचलित हो या ऐसे घिसे सिक्के यदि सौ दो सौ वर्ष पुराने भी हों तो आश्चर्य नहीं।''[10]

3. **कुमारपालप्रतिबोध** : इस ग्रंथ की रचना सं.1241 (1184 ई. में) में सोमप्रभसूरि ने अनहिलपट्टन में की। इसका दूसरा नाम 'जिनधर्मप्रतिबोध' भी है। ग्रंथ की भाषा मुख्यत: प्राकृत है बीच-बीच में संस्कृत श्लोक और अपभ्रंश के दोहे आए हैं। ग्रंथ का प्रतिपाद्य जैन धर्म के सिद्धांत हैं, जिन्हें लेखक ने हेमचन्द्र और कुमारपाल के संवाद-रूप में रचनाबद्ध किया है। 'गुरू-शिष्य संवाद रूप से कथा के द्वारा धर्म कहना सनातन रीति है।'

गुलेरी जी के अनुसार 'कुमारपालप्रतिबोध' में पुरानी हिन्दी-कविता दो तरह की है। एक जो स्वयं सोमप्रभ की और कवि सिद्धिपाल की रचित है, वह डिंगल कविता से बहुत मिलती है। दूसरी वह जो सोमप्रभ से पुरानी है और जिसका संग्रह कर उसे स्थान-स्थान पर उद्धृत किया गया है। 'प्रबंधचिंतामणि' के प्रसंग में काल निर्धारण की जो बात कही गई है वह इस दूसरी तरह की कविता के बारे में भी सत्य है।

4. **माइल्ल धवल के पहले का दोहा ग्रंथ** : दिगंबर जैनों के यहां एक ग्रंथ 'बृहत नयचक्र' है, जिसके लेखक मुनि देवसेन माने जाते हैं। नाथूराम प्रेमी जी ने 1920 ई. के अपने एक लेख में सिद्ध किया था कि इस ग्रंथ का नाम 'दव्वसहावययास' अर्थात् 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' है और इसका वास्तविक रचयिता माइल्ल धवल है। अपने इतिहास में शुक्ल जी ने ग्रंथ का नाम तो 'दव्वसहावपयास' स्वीकार किया है। पर माना है कि 'श्रावकाचार' के रचयिता देवसेन ने ही इस ग्रंथ की रचना की।

गुलेरी जी के अनुसार माइल्ल धवल 950 ई. के आसपास विद्यमान था और वह इस ग्रंथ का कर्ता नहीं गाथा कर्ता है। वे कहते हैं कि 'दव्वसहावपयास' पहले दोहाबंध यानी अपभ्रंश में था, जिसे धार्मिक आग्रह के चलते माइल्ल धवल ने गाहाबंध यानी प्राकृत में रचा। 'माइल्ल धवल ने पुरानी हिंदी के काव्य का प्राकृतानुवाद कर दिया।' प्राकृत की इस कृति का जिक्र गुलेरी जी ने मात्र यह सिद्ध करने के लिए किया है कि विक्रम की दसवीं शताब्दी के अंत में दोहाबद्ध पुरानी हिंदी का काव्य विद्यमान था।

5. **सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन** : हेमचंद्र का समय पिशेल ने 1088-1172 ई. माना है। गुलेरी जी के अनुसार इस ग्रंथ की रचना 1142 ई. से 1173 ई. के बीच किसी समय हुई। अपने इस प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ के सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण का विवेचन करने के बाद अंतिम आठवें अध्याय में हेमचंद्र ने प्राकृत व्याकरण का विवेचन किया है। अपभ्रंश का विवेचन इसी अध्याय के अंतर्गत है। गुलेरी जी के अनुसार ''संस्कृत और दूसरी प्राकृतों के व्याकरण में तो उसने अपनी वृत्ति में उदाहरणों की तरह प्रायः वाक्य या पद ही दिए हैं। किन्तु अपभ्रंश के अंश में उसने पूरी गाथाएं पूरे छन्द और पूरे अवतरण दिए हैं। यह हेमचन्द्र का दूसरा महत्व है। यों उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रक्खे जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते।''[11] इसका कारण यह था कि ''यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता, तो पढ़नेवाले जिनकी संस्कृत और प्राकृत आकर-ग्रन्थों तक तो पहुंच थी किन्तु जो 'भाषा' साहित्य से स्वभावतः नाक चिढ़ाते थे, उसके नियमों को न समझते''।

अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के व्याकरण को आठवें अध्याय के 120 सूत्रों (329-448) में विवेचित किया गया है और इन सूत्रों के उदाहरण रूप में प्रचलित प्राचीन कविता के 175 अवतरण दिए गए हैं। इन उदाहरणों के बारे में भी वही बात सत्य है कि व्याकरण-ग्रंथ का रचनाकाल उनकी उपलब्धि का निम्नतम समय है। गुलेरी जी का मानना है कि ऊर्द्धतम समय मुंज के नामांकित दोहे से मानना चाहिए। इसलिए इस उदाहृत कविता का काल वे 972 ई. से 1142 ई. तक लगभग दो शताब्दियों का मानते हैं।

5. **कुमारपालचरित** : हेमचन्द्र ने व्याकरण के साथ-साथ संस्कृत और द्वयाश्रय काव्यों की भी रचना की। प्राकृत द्वयाश्रय काव्य का नाम 'कुमारपालचरित' है, जिसमें राजा के प्रताप, विजयों और विहार आदि का वर्णन है। इसके अंतिम सर्ग में, जो अपभ्रंश के व्याकरण के समांतर रचा गया है, श्रुतदेवी का राजा को धर्मविषय उपदेश वर्णित है। जिन लक्षणों के लिए हेमचंद्र ने पुरानी प्रचलित कविता के 175 अवतरण दिए हैं, वे उसने स्वरचित उदाहरणों द्वारा 69 छन्दों में ही व्यक्त कर दिए हें। पुराने अपभ्रंश के उदाहरणों की तुलना में ये कुछ क्लिष्ट हैं।

6. **देशी नाममाला :** प्राय विद्वानों का मानना है कि हेमचंद्र के समय तक अपभ्रंश बोलचाल की भाषा न रह गई थी। उसने प्राकृत-रचना में आने वाले देशी शब्दों की गणना की है और उन्हें अकारादि क्रम से रखकर देशी नाममाला की रचना की है। एक स्थान पर आने वाले शब्दों को एक साथ गूंथकर उदाहरण बनाए गए हैं। हेमचन्द्र का 'देशी' के प्रति क्या दृष्टिकोण था, यह समझने-समझाने के लिए ही गुलेरी जी ने 'देशी नाममाला' पर विशेष विचार किया है।

'पुरानी हिन्दी' हिन्दी में अपभ्रंश सम्बन्धी भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन का पहला चरण था। आज हमारे सामने अपभ्रंश साहित्य की 150 से अधिक कृतियाँ उपलब्ध हैं, स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे महाकवि हैं, नाथों-सिद्धों और जैन मुनियों का रहस्यवादी काव्य है और शौर्य-श्रृंगार की एक परम्परा उपलब्ध है। ऐसे में उन कठिनाइयों की कल्पना आसानी से की जा सकती है जिनका सामना गुलेरी जी को करना पड़ा था। 'प्रबंधचिंतामणि' के प्रसंग में हम दिखा ही आए हैं कि अपभ्रंश के उदाहरणों को शास्त्री ने मागधी और टानी ने प्राकृत समझ लिया था। ऐसे में दो भाषाओं का ऐतिहासिक संबंध निरूपित करने के लिए 'देश' और 'काल' निर्धारण की जिस प्रक्रिया से गुजरना अनिवार्य होता है, उसके साथ-साथ भाषा के स्वरूप का भी निर्धारण करना पड़ा। यह सच है कि 'गुलेरी जी के प्रबन्ध में ऐसी कई रचनाओं के सम्बन्ध में चर्चा नहीं मिलती, जिनका प्रकाशन उनके जीवन काल में हो चुका था।'[12] प्राकृतपैंगलम (प्रकाशन 1902 ई), 'बौद्ध गान ओ दोहा' (प्रकाशन 1916 ई.), भविसयत्तकहा (प्रकाशन, 1918 ई.) ओर 'नेमिनाथचरित' में से एक अंत:कथा-सणंकुमारचरिउ उनके जीवनकाल में प्रकाशित हो चुकी थीं। श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने पाटण के जैनग्रन्थ भाण्डार से सन्देशरासक, चच्चरी, भावनासार, परमात्मप्रकाश, भविसयत्तकहा और पउमसिरौचरिउ जैसी अपभ्रंश पुस्तकों का पता लगाया था। गुलेरी जी इन स्रोतों का उपयोग नहीं कर सके। पर प्रारंभिक स्रोतों के आधार पर ही अपभ्रंश और हिंदी के सम्बन्ध-सूत्रों का जो मार्ग उन्होंने दिखाया, वह महत्वपूर्ण था। हेमचंद्र के दोहों के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि वर्तमान हिन्दी साहित्य से उनका परम्परागत सम्बन्ध वाक्य और अर्थ दोनों दृष्टियों से है। यह कहते हुए कि अपभ्रंश की रचनाएं सदा से भाषाकाव्य के अंतर्गत मानी जाती रही हैं, शुक्ल जी ने भी इस पारंपरिक संबंध को मान्यता दी थी। उन्होंने अपने इतिहास में गुलेरी जी के अध्ययनों का उपयोग किया है। आदिकाल में 'अपभ्रंश काव्य' के अंतर्गत शुक्ल जी ने हेमचंद्र, सोमप्रभसूरि, जैनाचार्य मेरुतुंग और शार्ङ्गधर का जो परिचय

दिया है वह बहुत कुछ गुलेरी जी के अध्ययन पर आधारित है। इसलिए 'पुरानी हिन्दी' का महत्व सिर्फ प्राथम्य की दृष्टि से ही नहीं है। इस विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण को देखकर ही द्विवेदी जी ने कहा था कि "हिन्दी साहित्य का यह अत्यन्त भयंकर दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि गुलेरी जी जैसा पारखी भाषाविद् ओर साहित्य-रसिक अपभ्रंश की उस समस्त सामग्री को देखने का अवसर नहीं पा सका, जो आज उपलब्ध है। गुलेरी जी भाषा के पारखी थे; संस्कृत, प्राकृत आदि साहित्यों के जानकार थे और सच्चे रसमर्मज्ञ थे।"[13]

गुलेरी जी अपभ्रंश से हिन्दी का स्वाभाविक सम्बन्ध मानते थे। इसलिए उन्होंने परवर्ती अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' नाम से अभिहित किया। तब से लेकर हिन्दी साहित्येतिहास या आदिकाल से संबंधित शायद ही कोई ऐसा ग्रंथ रहा हो जिसमें इस नाम का उल्लेख न हो। लेकिन किशोरीदास वाजपेयी और रामविलास शर्मा आदि विद्वानों का मानना है कि अपभ्रंश से हिन्दी का ऐसा कोई सीधा सम्बन्ध है नहीं। खड़ीबोली के व्याकरण रूपों को अपभ्रंश से नहीं जोड़ा जा सकता। एक आपत्ति धीरेन्द्र वर्मा की भी है। वे कहते हैं कि 'पुरानी हिन्दी' में संकलित दोहों की भाषा 'प्रधानतया प्राकृत के अन्तिम रूपों से मिलती-जुलती है तथा उसमें आधुनिकता बहुत कम मिलती है, जहाँ तहाँ प्राप्त आधुनिकता का पुट (जैसे स भविष्य, मूर्धन्यध्वनियों का विशेष प्रयोग) हमें आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के मध्यवर्ग की अपेक्षा पश्चिम वर्ग का अधिक स्मरण दिलाता है।[14] धीरेन्द्र वर्मा 'पुरानी हिन्दी' में संकलित दोहों की भाषा को हिन्दी की अपेक्षा राजस्थानी से अधिक संबद्ध मानते हैं। इसी तरह कीर्तिलता और उसकी भाषा पर विचार करते हुए शिवप्रसाद सिंह ने आधार सामग्री पर तो कोई आपत्ति दर्ज नहीं की लेकिन नामकरण पर उनका संदेह बरकरार है। वे कहते हैं कि "भाषा विज्ञान की दृष्टि से पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी आदि नाम यदि भेद को और पीछे खींचकर रखे हुए हैं तो 'पुरानी हिन्दी' जो खुद उस भेद का एक रूप है, जो आधुनिक आर्यभाषाओं की दृष्टि से भारत के एक भू-भाग की भाषा है, कहाँ तक सम्पूर्ण परवर्ती अपभ्रंश के लिए अभिधेय है?"[15] शिवप्रसाद सिंह के अनुसार 'अवहट्ठ' ही इस संक्रांतिकालीन भाषा का सही नाम है, जिससे पुरानी विश्लेषण युक्त भाषाओं का आपसी झगड़ा समाप्त हो जाता है।

वस्तुतः यह सवाल मूलरूप से हिन्दी के स्वरूप से जुड़ा है। गुलेरी जी जब 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ सिर्फ खड़ीबोली हिन्दी नहीं है। हिन्दी से उनका तात्पर्य अवधी, ब्रजभाषा, राजस्थानी आदि सभी से है। अपने विश्लेषण में उन्होंने कहीं भी यह नहीं

माना कि केवल खड़ीबोली हिन्दी से ही अपभ्रंश का संबंध जुड़ता है। उनका तो मानना था कि साहित्यिक भाषा के तौर पर उत्तर भारत में एक ही मानक अपभ्रंश का प्रचलन था। इसी अपभ्रंश के उदाहरण आज हमारे सामने हैं और सभी आधुनिक भाषाओं का संबंध उससे जुड़ता है। इसीलिए अपभ्रंश की कविताओं के समांतर वे तुलसी, सूर और राजस्थानी कविताओं की पंक्तियां ही उद्धृत नहीं करते बल्कि बड़ी सहजता से पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी आदि के लोक प्रचलित शब्दों के उदाहरण भी प्रस्तुत करते चलते हैं। चूंकि गुलेरी जी यह मानते थे कि एक समय में एक ही भाषा प्रधान साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित रही है और वे अवधी ब्रज, मैथिली, राजस्थानी खड़ीबोली को सम्मिलित रूप से 'हिन्दी' कहते हैं, इसलिए उन्होंने परवर्ती अपभ्रंश के लिए 'पुरानी हिन्दी' नाम का प्रयोग किया है। एक स्थान पर वे कहते भी हैं कि ''यदि इन कविताओं को 'पुरानी हिन्दी' नहीं कहा जाय तो 'रासो की भाषा को राजस्थानी या 'मेवाड़ी-गुजराती-मारवाड़ी-चारणी-भाटी' कहना चाहिए हिन्दी नहीं। ब्रजभाषा भी हिन्दी नहीं और तुलसीदास जी की मधुर उक्तियां भी हिन्दी नहीं''[16] इसका अर्थ यह हुआ कि जब राजस्थानी, अवधी और ब्रजभाषा आदि के लिए सामान्य रूप से 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो जहाँ-जहाँ इन भाषाओं के पुराने रूप हमें देखने को मिलते हैं, उन्हें 'पुरानी हिन्दी' क्यों न कहा जाय? 'गुर्जर अपभ्रंश' और 'आभीरी अपभ्रंश' जैसे क्षेत्रीय भेदों को प्रदर्शित करने वाले नामों का गुलेरी जी कहीं जिक्र नहीं करते। 'डिंगल' और 'पिंगल' को भी वे क्षेत्रीय भेद और साहित्यिक शैली ही मानते हैं। शिवप्रसाद जी का एक तर्क यह भी है कि परवर्ती अपभ्रंश के लिए 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग 12 वीं सदी के बाद के कुछ साहित्यकारों ने स्वयं ही किया। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है। अद्दहमाण के संदेशरासक (12वीं सदी), ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर (1325 ई.) और विद्यापति की कीर्तिलता (1406 ई.) में 'अवहट्ठ' शब्द का उल्लेख मिलता है। 'प्राकृतपैंगलम्' में इस शब्द का कोई उल्लेख नहीं है पर 16वीं सदी में बंशीधर ने इसकी जो टीका लिखी, उसमें इस भाषा को अवहट्ठ नाम दिया। ये कृतियाँ गुलेरी जी के जीवनकाल में प्रकाश में न आई थीं और इन्हें देखने का सौभाग्य उन्हें न मिल सका। इसलिए गुलेरी जी के संदर्भ में इस नामकरण पर विचार का कोई औचित्य नहीं है।

'पुरानी हिन्दी' के अंतर्गत गुलेरी जी ने जिन रचनाओं पर विचार किया है उनमें एक क्रम विद्यमान है। 'शार्ङ्गधर पद्धति' का रचनाकाल 1350 ई. के आसपास माना गया है और हेमचन्द्र का समय 1088-1172 ई. है। शेष रचनाएं इन दोनों के बीच स्थित हैं। माइल्ल धवल के प्राकृत 'दव्वसहावपयास' का काल 950 ई. के आसपास माना गया है और अपभ्रंश

'दव्वसहावपयास' का काल उससे पहले ही कल्पित किया गया है। इस तरह गुलेरी जी 'पुरानी हिन्दी' के कालविस्तार को लगातार पीछे की ओर खींचते हैं। इसका कारण यह है कि "अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और 'पुरानी हिन्दी' कहां आरम्भ होती है, उसका निर्णय करना कठिन है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें 'अपभ्रंश' भी कह सकते हैं, 'पुरानी हिन्दी' भी। संस्कृत-ग्रन्थों में लिखे रहने के कारण 'अपभ्रंश' और 'पुरानी हिन्दी' की लेखशैली की रक्षा हो गई जो मुखसुखार्थ लेखनशैली में बदलती-बदलती ऐसी हो जाती कि उसे प्राचीन समझने का कोई उपाय नहीं रह जाता। उसी प्राचीन लेखशैली को हिन्दी की उच्चारणानुसारिणी शैली पर लिखे दें (जिस प्रकार कि वह अवश्य ही बोली जाती होगी) तो अपभ्रंश-कविता केवल पुरानी हिन्दी हो जाती है और दुर्बोध नहीं रहती। इसलिए यह नहीं कह सकते कि पुरानी हिन्दी का काल कितना पीछे हटाया जाय।"[17]

सोमप्रभ और हेमचंद्र की रचनाओं की तुलना में गुलेरी जी ने संग्रहीत रचनाओं को अधिक स्थान दिया है। परम्परा के प्रवाह में बहते रहने से ऐसी कविताओं की भाषा अधिक स्वाभाविक बन पड़ी है, वह हिन्दी के अधिक समीप है। ऐसे में सोमप्रभ और हेमचंद्र आदि की रचनाओं के बारे में यह माना गया है कि नियमों को लगातार ध्यान में रखने के कारण ये कविताएं अपेक्षाकृत अधिक क्लिष्ट हैं और मानक अपभ्रंश के अधिक समीप हैं। कुछ दोहे ऐसे हैं जो हेमचंद्र के व्याकरण, प्रबंधचिंतामणि के साथ-साथ जिनमंडन के कुमारपाल प्रबन्ध (1435 ई.) में पाए जाते हैं। गुलेरी जी कहते हैं कि यों जिनकी आयु इधर तीन सौ वर्ष है, क्या वे उधर सौ सवा सौ वर्ष के न होंगे? इसीलिए कई स्थानों पर वे अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी को अभिन्न मानकर चलते हैं। यह बात थोड़ी सी उलझाऊ है। वस्तुतः गुलेरी जी परवर्ती अपभ्रंश को ही 'पुरानी हिन्दी' मानते हैं। लेकिन जैसे-जैसे वे यह देखते हैं कि रचनाकार के अपने उदाहरण तो परिनिष्ठित अपभ्रंश में हैं लेकिन जिन रचनाओं का उसने संग्रह किया है वह 'परिनिष्ठित अपभ्रंश' की तुलना में अधिक चलती हुई भाषा में हैं और 'पुरानी हिन्दी' के अधिक समीप है; वैसे-वैसे उनका यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि भाषा का प्रवाह तो पहले ही 'पुरानी हिन्दी' में परिवर्तित हो चुका था, साहित्यकार सिर्फ रूढ़ियों के चलते परिनिष्ठित भाषा में रचना कर रहे थे। ऐसे में साहित्यिक ग्रंथों को अपना आधार बनाने के बाद भी वे भाषा के वास्तविक प्रवाह की कल्पना करते चलते हैं। लेकिन किसी भी स्थिति में यह 'अपभ्रंश' दसवीं शताब्दी के बाद की है, इसलिए उनकी मूलभूत मान्यताओं में इससे कोई अंतर नहीं आता।

गुलेरी जी ने परवर्ती अपभ्रंश के लिए 'पुरानी हिन्दी' शब्द का प्रयोग सिर्फ इसलिए नहीं किया है कि उसकी कुछ भाषिक प्रवृत्तियाँ हिन्दी से मिलती-जुलती हैं। वे इन दोनों के साहित्यिक संबंध को भी रेखांकित करते हैं। यहाँ द्विवेदी जी की वह प्रसिद्ध टिप्पणी ध्यान आती है कि ''इस अन्धकार-युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाय, उसे सावधानी से जिलाये रखना कर्त्तव्य है; क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की सम्भावना लेकर आई होती है।''[18] गुलेरी जी के लिए यह कथन और भी सत्य था। जिन रचनाओं को उन्होंने प्रयोग किया है वे या तो व्याकरण-ग्रंथ थे या संस्कृत-प्राकृत में रचित धार्मिक ग्रंथ। अपभ्रंश की कविताएं जो प्राय: श्रृंगार, वीरता या नीति के रस में पगी थीं, इधर-उधर बिखरी हुई मिलीं। इस पर भी गुलेरी जी ने इस भाषा के विशाल साहित्य का अनुमान किया। ''मालूम होता है कि इस भाषा का साहित्य बड़ा था। उसमें 'महाभारत' और 'रामायण' की पूरी या उनके आश्रय पर बनी हुई छोटी-छोटी कथाएं थीं। 'ब्रह्म' और 'मुंज' नाम के कवियों का पता चलता है।''[19]

वे कहते हैं कि हेमचंद्र के व्याकरण में जो अपभ्रंश के उदाहरण आए हें, उनका वाक्य और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से वर्तमान हिन्दी साहित्य से परम्परागत सम्बन्ध है। 'सिद्धहेम' का एक दोहा है -

''बाह बिछोडवि जाहि तुहं, हउं तेवँइ को दोसु।
हिअयट्ठिय जइ नीसरहि, जाणउं मुंज सरोसु।।''

यही दोहा सूरदास के नाम से भी मिलता है -

''बाँह छुड़ाए जात हो निबल जानि के मोहि।
हिरदे से जब जाहुगे तो मैं जानौं तोहि।।''

लोक को एक बार फिर कसौटी बनाते हुए गुलेरी जी कहते हैं कि अपभ्रंश कविता का वास्तविक प्रसार तो लोक के बीच था। हेमचंद्र को अपने व्याकरण में अपभ्रंश के पूरे-पूरे उदाहरण देने ही इसलिए पड़े कि 'जिन पंडितों के लिए उसने व्याकरण बनाया वे साधारण मनुष्यों की 'भाखा' कविता को वैसे प्रेम से नहीं कंठस्थ करते थे जैसे संस्कृत और प्राकृत को।' कुछ दोहे तो चारणों में बीसवीं सदी तक प्रचलित थे। हेमव्याकरण का एक प्रसिद्ध दोहा है -

''वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति''

राजपूताने में इस दोहे का रूप घिस-घिसकर ऐसा हो गया -

''काग उड़ावन जाँवती, पिय दीठो सहसत्ति।

आधी चूड़ि कागगल, आधी टूट तडित्ति।''

हेमव्याकरण का ही एक और दोहा है -

''पुत्ते जाएं कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण।

जा बप्पीकी भुहडी चम्पिज्जइ अवरेण।''

परिवर्तन होते-होते इस दोहे की रूप यह हो गया है -

''बेटा जायाँ कवण गुणु, अवगुण कवण धियेण।

जो ऊभाँ धर आपणी गंजीजै अवरेण।''[20]

गुलेरी जी जानते हैं कि लोकचित्त का प्रसार उतना ही नहीं है जितना साहित्य से अंकित हो सका है।

भाषा और साहित्य के संबंध को निरूपित करने के क्रम में यह विषयांतर करना पड़ा। गुलेरी जी ने 'पुरानी हिन्दी' की भाषिक विशेषताओं को अलग से कहीं निरूपित नहीं किया हैं एक आध स्थानों पर टिप्पणियां अवश्य हैं। पर सामान्यत: साहित्यिक उदाहरणों की व्याख्या के क्रम में ही वे इन भाषिक परिवर्तनों को रेखांकित करते चलते हैं। कई स्थानों पर तो उन्होंने खड़ीबोली हिन्दी में काव्यानुवाद के प्रयास भी किए हैं। आवश्यकता पड़ने पर एक ही विशेषता को कई दोहों में लक्षित किया गया हैं। यहाँ पर भाषा संबंधी उन विशेषताओं को संक्षेप में दिया जा रहा है, जिन्हें गुलेरी जी ने 'पुरानी हिन्दी' में रेखांकित किया है

लिपि-शैली का कठिनाइयाँ : अपभ्रंश जैसी भाषाओं के बोलचाल के उदाहरण तो प्राप्त नहीं किए जा सकते, इसलिए लिपि की समस्याओं से गुजरकर ही विद्वानों की एक पीढ़ी ने हमारे लिए मानक पाठ निर्धारित किए हैं। गुलेरी जी कहते हैं कि संस्कृत ग्रंथों में लिखे होने के कारण कहीं-कहीं तो 'अपभ्रंश' और 'पुरानी हिन्दी' की लेखशैली की रक्षा हो गई है पर प्राय: संस्कृत के पंडित और जैन साधु संस्कृत और प्राकृत को तो शुद्ध लिखते हैं, किंतु इन कविताओं में कभी पुराना रूप रहने देते हैं कभी व्यवहार में परिचित नया रूप रख देते हैं। 'कोई लेखक प्राकृत की चाल पर चलता है, कोई पुरानी अक्षरयोजना को रखता है, कोई मंजी हुई देशभाषा की रीति पर

आ उतरता है'। सारांश यह है कि 'लेखक के हस्तसुख और वक्ता के मुखसुख से इतने परिवर्तन हो गए हैं कि मूल शैली की विरूपता आ गई है। जैसे –

(1) 'अउ' ओर 'अइ' पुराने रूप हैं जिनके स्थान पर प्राय: लिपिकारों ने 'ओ' और 'ऐ' रख दिया है। 'गुसाईजी के 'तइसइ', 'जुगुति' 'कालसुभाउ', 'अउरउ' इसी प्रभाव से 'तैसेहि', 'युक्ति', कालस्वभाव' ओर 'औरो' हो गए हैं'।

अम्मणिअउ	अम्मणिओ
संदेसडउ	संदेसडो
भणइ	भणै

(2) 'स्थ', 'च्छ', 'ज्झ', 'ब्भ' 'त' 'भ' एक ही तरह लिखे हुए मिलते हैं।

(3) 'पुराने लेखक द्वित्व वाला अक्षर बताने के लिए दुबारा अक्षर (युक्त) लिखने के परिश्रम से बचने के लिए उस पर अनुस्वार के सदृश बिंदी लगा दिया करते थे, वही कई शब्दों में लेखक भ्रम से 'न' श्रुति हो गई।

सं. मर्कट – प्रा. मक्कड़ – मंकड़ – मङ्कड़

खग्ग –खंग – खङ्ग

पत्तिज्जइ – पंतिज्जइ

सं. अत्यद्भुत – प्रा. अच्चब्भुअ – अच्चंभुअ – हिं. अचम्भा

प्राय: कहा गया है कि इस दौर में शब्दों में अकारण अनुनासिकता आ गई है। यह उसका एक संभावित कारण हो सकता है।

4. कई बार प्रचलित प्रयोगों के स्थान पर लिपिकारों ने प्रयासपूर्वक पुरानी अक्षरयोजना को रखा है।

जैसे 'ण' का प्रयोग अपभ्रंश में प्रचुरता से होता था (यह साहित्यिक प्राकृत की विरासत थी)। 'पुरानी हिन्दी' में 'न' का प्रयोग भी मिलता है। 'णं', 'नं', 'णइं', 'नइं' दोनों तरह के प्रयोग मिलते हैं। इसी तरह 'जिँव' या 'जिम' के स्थान पर 'जिम्वँ', लिखा मिलता है, जिसका उच्चारण 'जिम्म्व' हो नही सकता था क्योंकि इससे छंदभंग होता था। इसलिए 'जिम' या 'जिँव' रूप ही रहा होगा, जो हिन्दी के अधिक समीप है।[21]

शब्द-भण्डार

अपभ्रंश में तद्भव शब्दों का ही अधिक प्रयोग होता था। परनिष्ठित अपभ्रंश की अपेक्षा 'पुरानी हिन्दी' में एक तरफ तो देशी की प्रधानता हुई और दूसरी तरफ प्राकृत के तत्सम और तद्भव पदों के साथ-साथ उसने संस्कृत के तत्सम पद लेने भी प्रारम्भ कर दिए। गुलेरी जी के अनुसार ''तद्भव प्रयोगों के अधिक घिस जाने पर भाषा में एक अवस्था आती है जब शुद्ध तत्समों का प्रयोग करने की टेव पड़ जाती है।'' अब गत-गय, गज-गय, काक-काय दोनों तरह के शब्दों का प्रयोग होने लगा। वस्तुत जैसे-जैसे आधुनिक भाषाएं अपना आधुनिक स्वरूप ग्रहण करती गई हैं वैसे-वैसे तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ता ही गया है।

ध्वनि-सम्बंधी विशेषताएं

पहले ही कहा गया है कि लिपि की दृष्टि से पुरानापन बरकरार था पर उच्चारण के लिहाज से भाषा आगे बढ़ चुकी थी। ध्वनि सम्बन्धी विशेषताओं में सामान्यत: अपभ्रंश का ही अनुसरण होता रहा।

(1) 'ऋ' का लोप होता है और उसके स्थान पर पहले की तरह 'अ', 'इ', 'उ', श्रुति मिलती है।

मृणालवती - मुणालवइ

पृष्ठ - पुट्ठि

(2) अपभ्रंश में स्वरमध्यक क, ग, च, ज, त, द, प, ब, के लोप से उद्वृत्त स्वर अवशिष्ट रह जाता था। ऐसे प्रयोग अब भी प्रचलित थे। जैसे -

कर्ण-पुत्र - करणउत्त

अलिकुल - अलिउल

पर धीरे-धीरे य, व श्रुति के आगम से दोनों स्वरों को संयुक्त करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। 'पुरानी हिन्दी' में ऐसे प्रयोग भी देखने को मिलते हैं।

स्वर्ण - सुवण्ण (सुअण्ण नहीं)

विकाल - वियाल (विआल नहीं)

मकरघर - मयरहरू (मअरहरू नहीं)

उच्चारण की दृष्टि से पहले वाले रूपों का प्रचलन में होना कठिन जान पड़ता है।

(3) संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग भी जारी रहा और क्षतिपूरक दीर्घीकरण के उदाहरण भी मिलने लगे। जैसे -

गोसर्ग (सवेरा) - गोसग्ग

मग्गु - मागु

(4) अंत्य व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति प्रचलन में थी

महासती - महासइ

नदी - नइ

मृणालवती - मुणालवइ

(5) 'ण' ओर 'न' दोनों का ही प्रयोग मिलता है, जैसे णं-नं. णाइं-नाइं। ऐसे में यह मानना स्वाभाविक है कि 'ण' का प्रयोग शायद सिर्फ पारम्परिक कारणों से ही बना रहा हो।

(6) व्यत्यय के उदाहरण भी मिलते हैं, जैसे -

बुड (बूड़ना) - डुब्बिअउ (डूबना)

ह्रद - दह

(7) स्वरमध्यग ख, घ, थ, ध, फ, भ के स्थान पर 'ह' शेष रहता है -

मेघ - मेह

लघु - लहु

रूप-निर्माण की विशेषताएं

(1) गुलेरी जी लक्षित करते हैं कि पुरानी हिन्दी में विभक्तियाँ घिस गई हैं, खिर गई हैं। एक ही कारक की विभक्ति दूसरे के लिए भी प्रयोग होने लगी है।

(क) अपादान के लिए हुँ, हें का प्रयोग होता है - गिरिहुँ तरहुँ।

(ख) सम्बन्ध कारक के लिए 'ण', 'ह' और 'स्स' आदि का प्रयोग मिलता है

अम्हीणा, अम्हणिओ

मह कंतह, मुंजह, गयह

घरस्स, पियरस्स

(ग) अधिकरण के लिए 'इ' का प्रयोग, जैसे 'आषाढ़ि'।

(2) निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग भी मिलता है।

(3) 'विभक्तियों का प्रयोग सीमित हो जाने से कई अव्यय या पद लुप्तविभक्तिक पदों के आगे रखे जाने लगे जो विभक्तियां नहीं थे।' धीरे-धीरे यही स्वतंत्र शब्द परसर्ग के रूप में विकसित होते रहे। जैसे तणु, तण या तणों जैसे संबंध-सूचक प्रत्यय मिलते हैं और तादर्थ्य के लिए केहिं, रेसिं, तेहिं, तणेण प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है।

(4) 'क्रियापदों में मार्जन हुआ।' क्रियाओं के तिङन्त रूप क्रमशः सीमित होते गए और कृदन्तज रूपों का प्रयोग बढ़ा।

(5) विधि, प्रेरणार्थक और कर्मवाच्य में 'ज' या 'ज्ज' आता है, जैसे करीजै (किया जाय), दिज्जिय-दीजै-दिज्जै (दिया जाय), मुहिज्ज (छोड़ा जाय) और मरीजै (मरा जाय) इत्यादि।

(6) लोट् (आज्ञा) के रूपों में में अपभ्रंश की तरह इ, उ, हु, हया, हि का प्रचलन था और कहीं-कहीं इनके बिना कोरा धातु भी रह गया था।

(7) पूर्वकालिक क्रिया के लिए इ, य, इय, इवि रूपों का प्रयोग मिलता है; जैसे - जलि (जलकर), टूटि-तुट्टि (टूटकर), बोल्लिवि (बोलकर) आय्य (आकर), सुन्य (सुनकर), लाइवि (लाकर) इत्यादि।

व्याकरण की इन विशेषताओं को अधिक विस्तार देने की आवश्यकता नहीं है। महत्व की बात यह है कि गुलेरी जी इस सम्बन्ध को व्याकरण और साहित्य के बाहर जनजीवन में, रोजमर्रा के बोलचाल में भी रेखांकित करते हैं। तुलसी, सूर और राजस्थानी कविताओं को तो वे स्थान-स्थान पर उद्धृत करते ही हैं। अपभ्रंश पदों का विश्लेषण करते हुए तुलना के लिए जिस सहजता से राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती आदि के लोक प्रचलित शब्दों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं उससे गुलरीजी के सुदृढ़ लोक आधार का अहसास होता है।[22]

जैसे-जैसे अपभ्रंश की और रचनाएं प्रकाश में आती गई, विश्लेषण की यह परम्परा और भी गहरी होती गई। पुरानी हिन्दी के बारे में धीरेन्द्र वर्मा ने कहा था कि इस लेख के नमूने ''प्रायः गंगा की घाटी के बाहर के प्रदेशों में बने ग्रन्थों के हैं। अतः इनमें हिन्दी के प्राचीन रूपों का कम पाया जाना स्वाभाविक है। अधिकांश उदाहरणों में प्राचीन राजस्थानी के नमूने मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इन उदाहरणों की भाषा में अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक है कि इन

ग्रन्थों को इस काल के अपभ्रंश साहित्य के अंतर्गत रखना ही अधिक उचित मालूम पड़ता है।[23] धीरे-धीरे शोधकर्ताओं ने 'अपभ्रंश का बढ़ाव' मानी जाने वाली कृतियों से अपना ध्यान हटाकर 'वर्णरत्नाकर' (14वीं सदी का पूर्वार्द्ध) और 'कीर्तिलता' जैसी परवर्ती कृतियों का अध्ययन इसी दृष्टि से प्रारम्भ किया। इस बीच बोलचाल की भाषाओं के प्रति भी आग्रह बढ़ा और सौभाग्य से 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' जैसे औक्तिक ग्रंथ और 'राउलवेल' जैसा शिलांकित भाषा काव्य भी प्रकाश में आया। इन सबसे परवर्ती अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं-हिन्दी-के संबंध को जानने में और भी मदद मिली।

पर एक बात स्पष्ट है कि लम्बे समय तक परवर्ती अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं की मिली जुली कृतियां अस्तित्व में रहीं। जाहिर है कि इनमें अपभ्रंश का प्रतिशत बहुत ज्यादा था। सामान्य तौर पर 1000 ई. से आधुनिक या नव्य-भारतीय आर्यभाषा का काल माना जाता है। अपने अध्ययन में शेल्डन पोलॉक ने सुझाया है कि वर्तमान प्रभावकारी स्वरूप प्राप्त करने के क्रम में देशी भाषाएं कई चरणों से गुजरी है। इसमें पहला चरण वह है जब इन भाषाओं में लेखन क्रिया प्रारम्भ हुई। दूसरा चरण वह है जब इन भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगा। पोलॉक के अनुसार उपरोक्त दोनों चरणों के बीच समयांतराल देशी भाषाओं के विस्तार का एक प्रमुख अभिलक्षण है। हमारा आलोच्य काल इस समयांतराल में ही निहित है। यही कारण है कि दसवीं-ग्यारहवीं सदी से ही अपभ्रंश की कृतियों में देशीभाषाओं की छौंक नजर आने लगती है। लेकिन हिन्दी की व्यवस्थित कृतियाँ चौदहवीं सदी से मिलनी प्रारम्भ होती हैं। अवधी भाषा के पहले महाकाव्य 'चन्दायन' की रचना 1379 ई. में हुई। दूसरी तरफ अपभ्रंश की एक-दो कृतियां 15वीं-16वीं शताब्दी तक लिखी जाती रहीं।

अपने विकासक्रम में ब्रज, अवधी और राजस्थानी आदि भाषाओं ने सिर्फ अपभ्रंश का अनुगमन ही न किया होगा, उन्हें अपभ्रंश के वर्चस्व का भी सामना करना पड़ा होगा। यही कारण है कि विद्यापति जैसा कवि राजप्रशस्ति तो अवहट्ठ में लिखता है पर लोकराग की अभिव्यक्ति के लिए मैथिल को चुनता है। अपभ्रंश और हिन्दी के संबंध पर इस दृष्टि से भी विचार करना चाहिए। ऐसा प्रयास ही 'पुरानी हिन्दी' का अगला चरण होगा और उसका पूरक भी।

संदर्भ

1. शिवप्रसाद सिंह, कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, प्रथम सं.1955, 1964 (दू.सं.) पृ.21 से उद्धृत
2. उदाहरण के लिए 'मुग्धावबोध मौक्तिक' की टीका को जार्ज ग्रियर्सन ने 'प्राचीन गुजराती' कहा और उसे अपभ्रंश तथा गुजराती के बीच की कड़ी बतलाया। तेस्सितोरी ने यह कहते हुए कि उक्त समय तक मारवाड़ी गुजराती से अलग नहीं हुई थी, इसे 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी' नाम दिया। देखें, एल.पी. तेस्सितोरी, पुरानी राजस्थानी, अनु. नामवर सिंह, वाणी प्रकाशन, प्र.सं. 1955, सं.1998 की भूमिका, पृ.15-16
3. वही।
4. गुलेरी रचनावली, खण्ड-2, सं. डॉ. मनोहरलाल, जगतराम एण्ड संस, 2009, पृ.26 (भाग-2)
5. वही।
6. वही।
7. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, 2008, पृ.20 से उद्धृत
8. वही
9. द्विवेदी जी भी लगभग यही काल स्वीकार करते हैं पर वे भाषा और साहित्य की दृष्टि से इसे हिन्दी की पूर्वपीठिका मानने की बजाय अपभ्रंश का बढ़ाव मानना ज्यादा उचित समझते हैं। ''दसवी से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं; भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी।'' (हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ.38)
10. गुलेरी रचनावली, खण्ड-2, पृ.32
11. वही, पृ.102-103
12. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ.12
13. वही, पृ.11-12
14. शिवप्रसाद सिंह, सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, हिन्दी प्रचारक प्रतिष्ठान, 1958, तृ.सं. 1977, पृ.6 से उद्धृत
15. शिवप्रसाद सिंह कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, पृ.24
16. गुलेरी रचनावली, पृ.26
17. वही, पृ.25
18. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ.43
19. गुलेरी रचनावली, खण्ड-2, पृ.26
20. यहाँ गुलेरी जी टिप्पणी करते हैं कि ''यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मूल दोहे में 'मुये पुत्र से क्या अवगुण' कहा गया है किन्तु पीछे, स्त्री जाति की ओर अपमान बुद्धि बढ़ जाने

और उसका उत्तराधिकार न होने से 'धी' (पुत्री, संस्कृत-दुहितृ, पंजाबी धी) से क्या अवगुण हो गया है। गुलेरी रचनावली, खण्ड-2, पृ.28

21. लिपि और प्रयोग संबंधी इस अनियमितता पर ही शुक्ल जी कहते हैं कि जब समानाधिकरण विभक्तियों वाले विशेषण-विशेष्य के साथ हम ऐसे उदाहरण भी पाते हैं जिनके विभक्तियों का ऐसा समानाधिकरण नहीं है तब यह निश्चय हो जाता है कि उसका सन्निवेश पुरानी परंपरा का पालन मात्र है। इस परंपरापालन का निश्चय शब्दों की परीक्षा से अच्छी तरह से हो जाता है। जब हम अपभ्रंश के शब्दों में 'मिट्ठ' ओर 'मीठी' दोनों रूपों का प्रयोग पाते हैं तब उस काल में 'मीठी' शब्द के प्रचलित होने में क्यों संदेह हो सकता है? रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.17

22. नामवर सिंह, हिन्दी का गद्यपर्व, 'चंद्रधर शर्मा गुलेरी और हिंदी नवजागरण' नामक लेख में, राजकमल प्रकाशन 2010, पृ.110

23. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ.40 से उद्धृत (धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास, भूमिका, पृ.77)

24. पोलॉक ने इन चरणों को क्रमशः Literization और Literarization कहा है। देखें शेल्डन पोलॉक, द लैंग्वेज ऑव द गॉड्स इन द वर्ल्ड ऑव मेनः संस्कृत् कल्चर एण्ड पावर इन प्रि-माडर्न इण्डिया, परमानेंट ब्लैक, 2007

तृतीय अध्याय

खड़ीबोली : म्लेच्छभाषा(?)

खड़ीबोली : म्लेच्छभाषा (?)

एक तरफ तो गुलेरी जी 'पुरानी हिन्दी' जैसे नाम का प्रयोग करते हैं और दूसरी तरफ खड़ीबोली को 'म्लेच्छभाषा' कहते हैं। हालांकि ऐसा कहने में व्यंग्य की एक अंतर्ध्वनि मौजूद है लेकिन वास्तविकता यह है कि यह नामकरण एक ऐतिहासिक बहस का आइना भी है। कुछ एक संस्कृत और अंग्रेजी लेखों को छोड़कर गुलेरी जी का अधिकांश लेखन इसी खड़ीबोली-हिन्दी में है। कविता लिखने के जो प्रयास उन्होंने किए, इक्का-दुक्का ब्रजभाषा कविताओं को छोड़कर वे भी इसी खड़ीबोली हिन्दी में हैं। फिर खड़ीबोली के लिए 'म्लेच्छभाषा' शब्द का प्रयोग क्यों?

वस्तुतः एक दौर में यह भ्रम काफी प्रचार पा गया था कि खड़ीबोली मुसलमानों की भाषा है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी के प्रारंभिक दशक में यह भ्रम और प्रगाढ़ हुआ। ब्रजभाषा और खड़ीबोली का जो वाद-विवाद चला, उसने भी इस भ्रम को मजबूत करने का प्रयास किया। गुलेरी जी कहते हैं कि ''हिंदी मुसलमानी भाषा है (यह हँसी में कहा था...) ... हिन्दू तो अपने-अपने घरों की प्रांतीय और प्रादेशिक बोली में रंगे थे, उसकी परम्परागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी' भाषा को 'खड़ी' बनाकर अपने लश्कर और समाज के लिए उपयोगी बनाया, किसी प्रांतीय भाषा से उनका परम्परागत प्रेम न था। उनकी भाषा सर्वसाधारण या राष्ट्रभाषा हो चली, हिन्दू अपने-अपने प्रांत की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिन्दू घरों की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखापढ़ी और साहित्य की भाषा हिन्दी हो मुसलमानों में बहुत घरों की बोली खड़ीबोली है ... 'हिंदुई' भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई, फिर हिंदुओं में जागृति होने पर उन्होंने हिन्दी को अपना लिया।''[1]

गुलेरी जी के अनुसार यह खड़ीबोली मुसलमानों में इतनी प्रचलित थी कि उनकी पहचान ही बन गई थी। अपने तर्क की पुष्टि के लिए उन्होंने लगभग दस ऐसे उदाहरण दिए हैं, जिनमें कवि की अपनी भाषा तो ब्रजभाषा, पुरानी गुजराती (पड़ी), महाराष्ट्र भाषा यहाँ तक कि संस्कृत है और कवियों ने 'कुछ छींटा मुसलमानी अर्थात् खड़ीबोली का स्वाभाविक रंग लाने के लिए दिया है'। जैसे किन्हीं कवि रामदीन ने राव अमरसिंह द्वारा सलावत खां को मारने का वर्णन किया है कवि की अपनी उक्ति तो यों है -

''...मीर उमरावन की कचेड़ी धुजाय सारी।।
खेलत शिकार जैसे मृगन में बागरो।।
कहे 'रामदीन' गजसिंह के अमरसिंह
राखी रजपूती मजबूती नव नागरो।
पाव सेर लोह से हलाई सारी पातसाही
होती समशेर तो छिनाय लेतो आगरो।।''

वहीं शाहजहां की उक्ति इस भाषा में दी है -

''वजन मांह भारी थी कि रेख में सुधारी थी
हाथ से उतारी थी कि सांचे हू मे ढारी थी
सेख जी के दर्द माँहि गर्द-सी जमाई मर्द
पूरे हाथ साधी थी कि जोधपुर सवारी थी।।
हाथ में हटक गई गुट्टी-सी गटक गई
फेंफड़ा फटक गई आँकी बाँकी तारी थी।
'शाहजहाँ' कहे यार सभा माँहि बार-बार
अमर की कमर में कहाँ की कटारी थी।''[2]

'हिंदू कविता की टकसाली भाषा, पड़ी भाषा, 'ब्रजभाषा' का प्रयोग करने वाले भूषण की कविता में भी उक्ति और परोक्ति का मिश्रण दिया गया है -

'अफजल खां को जिन्होंने मयदान मारा
मारा बीजापुर गोलकुंडा मारा जिन आज है।
'भूषन' भनत फरासीस त्यों फिरंगी मारि
हबसी तुरक डारे उलटि जहाज है।।
देखत में खान रूक्षाम **जिन खाक किया**
सालति सुरति आजु सुनी जो अवाज है।
चौंकि चौंकि चकत्ता कहत चहुघाँ ते **यारो**
लेत रहो खबर कहाँ लौं शिवराज हैं।''[3]

उदाहरण और भी हैं। उन उदाहरणों के माध्यम से गुलेरी जी यही प्रदर्शित करना चाहते हैं कि परम्परा से साहित्य में मुसलमान पात्रों के लिए खड़ीबोली का प्रयोग किया जाता रहा है। 'हिंदू

कवियों का यह सम्प्रदाय रहा है कि हिंदू पात्रों से प्रादेशिक भाषा कहलवाते थे और मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली।'

इसके साथ-साथ गुलेरी जी की कुछ मान्यताएँ और भी हैं, यथा -

(1) ''खड़ी बोली उर्दू पर से बनाई गई है ... खड़ीबोली या पक्कीबोली या रेखता या वर्तमान हिंदी के आरंभ काल के गद्य और पद्य को देखकर जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी, अरबी तत्सम या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिन्दी तत्सम या तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। हिंदी गद्य की भाषा लल्लूलाल के समय से आरम्भ होती है, उर्दू गद्य उससे पुराना है।''

(2) ''हिंदुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह ब्रजभाषा या पूर्वी वैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी, गुजराती आदि ही मिलती है, अर्थात् 'पड़ी बोली' में पाई जाती है। खड़ीबोली कविता हिन्दी में नई है। अभी-अभी तक ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली का झगड़ा चल ही रहा था, उर्दू पद्य की भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। पुरानी हिंदी गद्य और पद्य-खड़े रूप में-मुसलमानी है।''

(3) ''वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिंदी की विभाषा है।''[4]

हिंदी-उर्दू विवाद और खड़ीबोली-ब्रजभाषा विवाद के प्रभाव से ये मान्यताएं बड़ी तेजी से फैली थीं। ये मान्यताएँ अकेले गुलेरी जी की ही नहीं थीं। इसीलिए अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के 'आधुनिक काल' के प्रसंग में शुक्ल जी को स्थान-स्थान पर इन भ्रमों का परिहार करना पड़ा है। आगे उनके तथ्यों और तर्कों का उपयोग किया गया है।

इस भ्रम के ऐतिहासिक संदर्भ को समझने के लिए हमें थोड़ा पहले से शुरूआत करनी पड़ेगी। 'पुरानी हिन्दी' के प्रसंग में हम दिखा आए हैं कि गुलेरी जी राजस्थानी, ब्रज, अवधी, खड़ीबोली आदि सभी को सम्मिलित रूप से हिंदी कहते हैं। उनके लिए 'हिंदी' का अर्थ इन सभी भाषाओं या बोलियों का समुच्चय है। इन भाषाओं का अपना-अपना क्षेत्रीय आधार भी है। खड़ीबोली के संदर्भ में वे कहते ही हैं कि आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की पड़ी भाषा को खड़ी बनाया गया। हिन्दी और उर्दू के सम्बन्ध को समझने के लिए खड़ीबोली के इस क्षेत्रीय आधार को चिन्हित करना एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण तथ्य है। हिंदी और उर्दू दोनों का ही मूल शब्द-भण्डार और व्याकरणिक ढाँचा इसी खड़ीबोली के आधार पर विकसित हुआ है। 'पड़ीबोली'

से 'खड़ीबोली' बनाने का अर्थ है एक क्षेत्रीय बोली को परिष्कृत, सुसंबद्ध व सुगठित रूप प्रदान करना। एक स्थान पर गुलेरी जी संस्कृत के किसी कवि का पद उद्धृत करते हैं, जिसकी भाषा स्वयं कवि के अनुसार 'म्लेच्छ और संस्कृत की संकर' भाषा है -

''हरनयनसमुत्थज्वालवह्निज्जलाया
रतिनयनजलौघैः खाक बानकी बहाया
तदपि दहति चेतो मामकं क्या करोंगी।
मदनशिरसि भूयः क्या बला आगि लागी।''[5]

गुलेरी जी कहते हैं कि ''कवि ने इसे म्लेच्छभाषा केवल खाक, बाकी और बला शब्दों पर से ही नहीं कहा है, इसकी खड़ी रचना पर ऐसा लिखा है।'' खड़ी रचना माने खड़ी बोली का व्याकरणिक ढाँचा। इसी पद के संदर्भ में आगे वे लिखते हैं कि 'संस्कृत के पंडित की दृष्टि में यह पक्की बोली म्लेच्छों की भाषा थी।' प्रश्न यह है कि हिंदी के पंडित की दृष्टि में भी यह म्लेच्छभाषा कैसे बनी रही?

एक बार यह निश्चित होने के बाद कि खड़ीबोली का अपना क्षेत्रीय आधार है, अगला प्रश्न यह उठता है कि इस क्षेत्रीय बोली का प्रसार कैसे हुआ। गुलेरी जी ने प्रादेशिक खड़ीबोली को सर्वसाधारण की भाषा बनाने में मुसलमानों के योगदान को लक्षित किया है। इस बिंदु पर अधिकांश विद्वान सहमत हैं। शुक्ल जी भी कहते हैं कि ''देश के भिन्न-भिन्न भागों में मुसलमानों के फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी।''[6] शुक्ल जी के अनुसार मुगल साम्राज्य के पतन से जब लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद आदि क्षेत्रीय राजधानियाँ चमकीं और दिल्ली के आसपास के प्रदेशों की हिंदू व्यापारी जातियाँ पूरब की ओर फैलने लगीं तब खड़ी बोली के प्रसार का दूसरा दौर आया। इससे खड़ीबोली शहरों के बाजार की व्यापारिक भाषा बन गई।

यह भी एक तथ्य है कि तुर्कों के साथ-साथ भारत में नई प्रौद्योगिकी का आगमन हुआ। सत्ता का केंद्रीकरण बढ़ा ओर राजस्व वसूली भी बढ़ीं। इससे उत्तर भारत में नए-नए शहरों का उदय हुआ।[7] रामविलास शर्मा ने जातीय भाषा के रूप में खड़ीबोली के उत्थान को जिस 'व्यापारिक पूंजीवाद' से जोड़ा है, उसमें भी इन नए उभरते हुए व्यापारिक शहरों, विशेषकर आगरे के महत्व को बार-बार रेखांकित किया गया है। इस तरह उत्तर भारत में खड़ीबोली ने जनसम्पर्क

की भाषा का रूप ग्रहण करना प्रारंभ किया। पर खड़ीबोली के प्रसार में मुसलमानों का योगदान अपने चरम रूप में दकनी को मिले महत्व के रूप में दिखा। खड़ीबोली को शासन-सत्ता का समर्थन पहली बार अपनी जमीन से बहुत दूर दकन में ही मिला। सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के अनुसार दक्षिण में यह उत्तर-भारतीय भाषा मुसलमानों से इतनी अविच्छिन्न गिनी जाती थी कि स्थानीय हिंदुओं में उसका नाम ही 'मुसलमानी' प्रचलित हो गया। इस भाषा की यह छवि आगे भी बनी रही। 1950 ई. में राष्ट्रभाषा परिषद के कन्नड़ प्रभाग के अध्यक्ष ने बताया कि बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में उनके क्षेत्र में लोग 'हिंदी' या 'राष्ट्रभाषा' नाम से अपरिचित थे और इस भाषा को 'मुसलमानी' नाम से ही जानते थे।[8] इस तरह उत्तर और दक्षिण दोनों ही जगहों पर खड़ीबोली की छवि कुछ ऐसी बनी कि उसे मुस्लिमों से अभिन्न समझा जाने लगा। खड़ीबोली पर मुस्लिमों के धार्मिक-सांस्कृतिक रीति-रिवाजों का रंग भी चढ़ा और एक सबसे महत्वपूर्ण बात कि लम्बे समय तक यह भाषा मुख्यतः फारसी लिपि में ही लिखी जाती रही। इन सब वजहों से कभी-कभी इसे यावनी, जावनी, यामनी, मुसलमानी या म्लेच्छभाषा कहा गया। मुसलमानी शब्द का अर्थ स्पष्ट ही है। ग्रीक, शकों से लेकर तुर्कों, पठानों तक बाहर से आने वाली जातियों को ही प्रायः 'यवन' और 'म्लेच्छ' कहा गया है।

पर इससे यह गलतफहमी बिल्कुल न होनी चाहिए कि खड़ीबोली मुसलमानों की इजाद की हुई भाषा है, जैसा कि कई बार मीर अम्मन, सैयद अहमद खां और सैयद एहतिशाम हुसैन आदि के लेखों से प्रकट होता है।[9] यह भाषाविज्ञान का एक तथ्य है कि दो भाषाओं के सम्पर्क से प्राकृतिक तौर पर किसी तीसरी भाषा का जन्म नहीं होता। 'भाषा और समाज' में रामविलास शर्मा ने इस मत का तार्किक ढंग से खण्डन किया है कि मुसलमानों ने उर्दू का आविष्कार किया। खड़ीबोली को मुसलमानों से अभिन्न मानने से यह भ्रम भी फैलता है कि खड़ीबोली-उर्दू भारत के सभी मुसलमानों की भाषा है। बंगाली, मराठी, कन्नड़, मलयाली हर क्षेत्र के मुसलमान वहीं की भाषाएं बोलते हैं। दाउद, कुतुबन, जायसी, रहीम और रसखान ने खड़ीबोली में नहीं अवधी और ब्रजभाषा में कविता की थी।

वस्तुतः 'खड़ी बोली' और 'पड़ी बोली' का अंतर मुसलमानों और हिंदुओं का अंतर नहीं है। यह प्रभाव शिक्षित और अशिक्षित, शहर और देहात के मध्य अंतर से उत्पन्न होता है। 'हमारे सूबे के दहातों में रहने वाले मुसलमान प्रायः देहातियों की भाषा ही बोलते हैं।'[10] इसीलिए

खड़ीबोली के दोनों ही रूप-हिंदी और उर्दू-शिक्षित शहरियों के बीच ही प्रचलित हैं। यह पहले भी सच था और आज भी सच है।

गुलेरी जी यह भी कहते हैं कि हिंदी के आरम्भ काल के गद्य और पद्य को देखकर जान पड़ता है कि उर्दू रचना से फारसी, अरबी तत्सम या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिन्दी तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। हिंदी-उर्दू विवाद से परिचित विद्यार्थी जानते हैं कि यह कोई नया मत नहीं है। यद्यपि 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ऐसी मान्यताएं प्रचलित नहीं थीं। लेकिन जैसे-जैसे हिंदी और उर्दू का विवाद बढ़ा, तर्कों का स्थान कुतर्कों ने ले लिया। उर्दू के समर्थकों को यह विचार बहुत लुभावना लगा कि खड़ीबोली - हिंदी वास्तव में खरी बोली है और उसे उर्दू का परिष्कार करके 'खरा' बनाया गया है। उर्दू से हिन्दी की उत्पत्ति का यह मत शब्दों के थोड़े हेर-फेर के साथ गार्सा द तासी, बीम्स, जार्ज ग्रियर्सन और सैयद अहमद खां आदि ने भी प्रकट किया था।

जबकि वास्तविकता यह है कि न तो उर्दू से हिन्दी बनी और न ही हिन्दी से उर्दू। दोनों ही भाषाएं खड़ीबोली को आधार बनाकर विकसित हुई हैं, इसीलिए कभी-कभी विद्वान आज की साहित्यिक हिन्दी और उर्दू को खड़ी बोली की साहित्यिक शैलियां कह देते है। 8 सितम्बर 1873 ई. की 'कविवचन सुधा' में हिन्दी-उर्दू के बारे में एक लेख छपा था "Hindi versus Urdu Philologically"। इसमें कहा गया कि ''हिन्दी और उर्दू में अंतर क्या है। हम बिना संकोच के उत्तर देते हैं कि भाषाओं में कुछ अंतर नहीं है क्योंकि व्याकरण की विभक्तियाँ और नियम दोनों में एक हैं पर इतना ही अंतर है कि हिन्दी में जिसके लिए हिन्दी शब्द नहीं मिलता वहाँ संस्कृत शब्द काम में लाते हैं और उर्दू में सहज हिंदी शब्द होने पर भी और जहाँ शब्द नहीं मिलते वहां तो अवश्य ही अरबी और फारसी के शब्द लिखे जाते हैं, यही दोनों में अंतर है।''[1]

प्रारम्भ में हिन्दी, उर्दू और यहाँ तक कि दकनी में भी शब्द-भण्डार की व्यापक समानता थी। हिन्दी और उर्दू दोनों ही में ब्रजभाषा से प्रभावित शब्दरूपों का प्रयोग होता था। जिनने-जिन्होंने, विसने-उसने, विनने-उन्होंने, उन्होंके-उनका, तिस्का-उसका, तिससे-उससे, तैसे-वैसे, तहां-वहां, तेने-तूने, वुसकूं-उसको, मैं कहा - मैंने कहा, तुझ बिन-तेरे बिन, आवै-आवे-आये, रिसाय-रिसा-रिसाकर, स्तुति करी-स्तुति की, कहियो - कहना, दीजो-देना, कीजें-कीजिये, किसू-किसे, कहू-कभी, अजहूँ-अझों, जद-जब, सोंही-सामने, बोल्या-बोला, कहाते

हैं - कहलाते हैं, आवता है - आता है, करू हूँ - करता हूँ, निहारत हैं - निहारते हैं, जाय बैठा-जा बैठा, भया-हुआ आदि अनेक ब्रज-प्रभावित शब्द हिंदी और उर्दू दोनों में प्रयुक्त होते थे।[12] हिंदी और उर्दू दोनों में ब्रजभाषा के पद्य विशेषकर दोहे उद्धृत करने की भी रीति थी। उर्दू के मुकाबले दकनी में फारसी ढंग के समास प्रयोगों, वाक्य-गठन और बहुवचन बनाने की प्रवृत्ति भी कम ही थी।

इसी आधार पर रामविलास शर्मा ने प्रदर्शित किया है कि 'हिंदी का विकास उर्दू के सरल शब्दों के बदले संस्कृत के कठिन शब्दों के प्रयोग द्वारा नहीं बल्कि उस भाषा परम्परा के आधार पर हुआ है जिसे उर्दू ने अठारहवीं सदी में बहुत कुछ छोड़ दिया था।' उर्दू में जनपदीय भाषाओं से अलगाव और 'मतरूकात' के बारे में एस.आर. फारूकी कहते हैं कि ''अठारहवीं सदी के अंतिम दशकों में उर्दू में यह प्रवृत्ति बढ़ी। 'शुद्धता', 'भाषा-सुधार', 'भाषा से अवांछित तत्वों को बहिष्कृत करने' और 'उर्दू शब्दों के मुकाबले फारसी-अरबी शब्दों को वरीयता देने' पर दुर्भाग्यपूर्ण तरीके से जोर दिया जाने लगा।''[13] धीरे-धीरे हिंदी और उर्दू दोनों ने स्वयं को परिनिष्ठित बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ की। भाषा को टकसाली बनाने का सिलसिला हिंदी और उर्दू में साथ-साथ चला। रामविलास शर्मा लक्षित करते हैं कि -

(1) हिंदी और उर्दू के परिनिष्ठित होने की मूल प्रक्रिया एक है। दोनों उन रूपों और प्रयोगों को छोड़ती जाती हैं, जिन्हें भद्रजन 'गंवारू' समझते हैं। इस दिशा में अक्सर उर्दू पहल करती है और हिंदी उसके पीछे चलती है। (इसलिए भाषा के प्रति अभिजातवर्गीय दृष्टिकोण बदलना आवश्यक है)

(2) जनपदीय बोलियों से हिन्दी उर्दू जितना ही दूर जाती हैं उतना ही उन दोनों के बीच का फासला बढ़ता जाता है, प्राचीन भाषाओं पर उनकी निर्भरता बढ़ती जाती है।

हिन्दी और उर्दू का जो रूप आज हमारे सामने है, वह खड़ीबोली के मूल शब्द-भण्डार और व्याकरणिक ढाँचे को आधार बनाकर ही विकसित हुआ है। इन भाषाओं ने एक-दूसरे के समानांतर ही अपने साहित्यिक रूप प्राप्त किए हैं।

अपने 'इतिहास' में खड़ीबोली के प्रसार के कारणों का जिक्र करने के बाद शुक्ल जी लिखते हैं कि ''इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की व्यापारिक भाषा भी खड़ीबोली हुई। यह खड़ीबोली असली और स्वाभाविक थी, मौलवियों और मुंशियों की उर्दू-ए-मुअल्ला नहीं। यह अपने ठेठ रूप से बराबर पछांह से आई जातियों के घरों में बोली जाती है। अत: कुछ लोगों का

यह कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ीबोली अस्तित्व में आई और उसका मूल रूप उर्दू है जिससे आधुनिक हिंदी गद्य की भाषा अरबी फारसी शब्दों को निकालकर गढ़ ली गई, शुद्ध भ्रम या अज्ञान है।'' उनके अनुसार ''खड़ी बोली का रूप रंग जब मुसलमानों ने बहुत कुछ बदल दिया और वे उसमें विदेशी शब्दों का भंडार भरने लगे तब हिंदी के कवियों की दृष्टि में वह मुसलमानों की खास भाषा सी जंचने लगी। इससे भूषण, सूदन आदि कवियों ने मुसलमान दरबारों के प्रसंग में या मुसलमान पात्रों के भाषण में ही इस बोली का व्यवहार किया है।''[14] ऐसा लगता है जैसे शुक्ल जी गुलेरी जी के प्रश्नों का ही उत्तर दे रहे हों। आगे वे लिखते हैं कि ''जिस समय अंग्रेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय सारे उत्तरी भारत में खड़ी बोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। जिस प्रकार उर्दू कहलाने वाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी, मुंशी आदि फारसी तालीम पाए हुए कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिन्दू साधु, पंडित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे। जो संस्कृत पढ़े-लिखे या विद्वान होते थे उनकी बोली में संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे। इस प्रकार अंग्रेजों को शिष्ट समाज के बीच दो ढंग की भाषाएँ चलती मिलीं। एक तो खड़ी बोली का सामान्य देशी रूप दूसरा वह दरबारी रूप जो मुसलमानों ने उसे दिया था और उर्दू कहलाने लगा था।''[15]

सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने भी इस मत का समर्थन किया है कि खड़ीबोली का विकास स्वाभाविक तरीके से हुआ था और उसका नाम पहले 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' ही था। दूसरा नाम 'जबाने-उर्दू' तो उसे बहुत आगे चलकर 17वीं सदी में मिला।[16]

हिन्दी-उर्दू के इस सम्बन्ध को स्वयं गुलेरी जी ने ही कई स्थानों पर स्वीकार किया है। 'हिंदी' को उसके व्यापक अर्थ में लेते हुए उन्होंने कहा ही है कि ''वस्तुत: उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिंदी की विभाषा है।'' केशवराम भट्ट के हिन्दी व्याकरण की समीक्षा लिखते हुए भी वे कहते हैं कि 'भट्टजी ने बहुत ठीक हिंदी उर्दू को एक भाषा माना है।' इसी तरह किन्हीं मौलवी फतह मुहम्मद द्वारा उर्दू को अरबी व्याकरण के सांचे में ढाले जाने के प्रयास पर वे कहते हैं कि ''क्या यह बात सच है कि केवल इसलिए कि उत्तर भारत के मुसलमान उर्दू को बोलते हैं, उस आर्य घराने की कुलबाला को सिमियातिकी बुर्का और पिजामा पहनाया जाता है?''[17]

इसलिए यह विचार भ्रामक है कि हिंदी उर्दू से कृत्रिम तरीके से विकसित हुई है।

इस भ्रम पर जोर देने का एक परिणाम यह भी हुआ कि लल्लूलाल को अनायास ही हिन्दी गद्य को जन्म देने का श्रेय मिल गया। गुलेरी जी से पहले ग्रियर्सन ने भी यह बात कही थी कि ''हिन्दी का उद्‌भव आधुनिक है और यह अंग्रेजों के प्रभाव से पिछली शताब्दी के आरम्भ में प्रचलित हुई है। गिलक्रिस्ट की प्रेरणा से लल्लूलाल ने प्रसिद्ध ग्रंथ प्रेमसागर लिखकर यह सब परिवर्तन किया। इस ग्रंथ का गद्यभाग पूर्णतया उर्दू में लिखा गया है, जिसमें 'इण्डोआर्यन' शब्द भरे हुए हैं जबकि उर्दू का लेखक उन स्थानों पर फारसी का प्रयोग करता।''[18] उर्दू से 'हिन्दी' के उद्‌भव वाले मत की तरह हिन्दी गद्य के उद्‌भव का यह मत भी तथ्यात्मक नहीं है। लल्लूलाल ने प्रेमसागर के द्वारा किसी नई भाषा की नींव न डाली थी।

हिन्दी गद्य की भाषा पहले से ही प्रचलन में थी। शुक्ल जी ने अकबर के समय में गंग कवि की 'चंद छंद बरनन की महिमा', रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषा योगवाशिष्ठ' (1741 ई.), दौलतराम कृत 'जैन पद्‌मपुराण' का भाषानुवाद (1761 ई.), राजस्थान के किसी लेखक का 'मंडोवर का वर्णन' (1773-1783 ई. के बीच), मुशी सदासुखलाल नियाज के गद्य और इंशाअल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' के माध्यम से हिंदी गद्य की परम्परा को प्रदर्शित किया है। यहां पर 'भाषायोगवाशिष्ठ (1741ई.), जिसे रामचन्द्र शुक्ल परिमार्जित हिंदी गद्य की प्रथम पुस्तक मानते हैं, और प्रेमसागर (1803 ई.) का एक-एक गद्यांश तुलना के लिए उद्धृत किया जा रहा है -

''प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थिर होते हैं ... जिस आनंद के समुद्र के कण से संपूर्ण विश्व आनंदमय है जिस आनंद से सब जीव जीते हैं ... केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है। कर्म से अंत:करण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता और अंत:करण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। (भाषा योगवाशिष्ठ)

''इतना कह महादेवजी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय नीर में न्हाय न्हिलाय, अति लाड़ प्यारे से लगे पार्वती जी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनंद में मग्न हो डमरू बजाय तांडव नाच-नाच, संगीत शास्त्र की रीति से गाय गाय लगे रिझाने।'' (प्रेमसागर)

''नृप पावस प्रचंड पशु पक्षी जंतुओं की दशा विचार चारों ओर से दल बादल ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तौ धौंसा बजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थी सोई शूर वीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमक थी।'' (प्रेमसागर)[19]

कम से कम इन दोनों उदाहरणों को देखने से यही लगता है कि रामप्रसाद निरंजनी का गद्य अधिक परिष्कृत था, दूसरी तरफ लल्लूलाल के गद्य में ब्रजभाषा गद्य का प्रभाव अधिक दिखता है। तथ्य तो यह है कि स्वयं लल्लूलाल अपने समय में प्रचलित गद्य की विभिन्न शैलियों से भलीभांति परिचित थे और उनमें ही रचना कर रहे थे। 'प्रेमसागर' के अलावा लल्लूलाल ने ब्रजभाषा गद्य में 'राजनीति' और 'उर्दू-गद्य' में 'बैताल पचीसी' की रचना की थी। इसलिए इस प्रचार पर कि लल्लूलाल ने हिंदी गद्य की भाषा रची, व्यंग्य करते हुए रामविलास शर्मा लिखते हैं कि ''ग्रियर्सन का कहना था कि गिलक्रिस्ट की प्रेरणा से लल्लू जी ने 'प्रेमसागर' के माध्यम से हिन्दुओं को गद्य की भाषा दी। वे यह भी कह सकते थे कि गिलक्रिस्ट की प्रेरणा से लल्लूजी ने 'राजनीति' के माध्यम से ब्रजवासियों को ब्रजभाषा दी ओर 'बैताल पचीसी' के माध्यम से मुसलमानों को उर्दू-गद्य दिया। और तीनों के लेखक लल्लूजी।''

यह लम्बे समय तक वाद-विवाद का विषय रहा कि फोर्ट विलियम कॉलेज ने हिन्दी-उर्दू के बीच पहले से विद्यमान अंतर को मान्यता देकर मजबूत किया या उसने यह भाषागत अंतर निर्मित किया। हम दिखा चुके हैं कि हिन्दी-उर्दू के मानकीकरण की प्रक्रिया पहले ही प्रारम्भ हो गई थी। और ये रूप पहले से प्रचलित थे। ''अंग्रेजों ने हिन्दी-उर्दू का भेद पैदा नही किया, उसे दृढ़ किया।''[20] फोर्ट विलियम कॉलेज से हिन्दी और उर्दू दोनों ही के गद्य की पुस्तकें प्रकाशित की गई और उनमें भाषागत अंतर का ध्यान रखा गया। वहाँ लल्लूलाल के प्रेमसागर (1803 ई.) एवं सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान (1803 ई.) के साथ साथ मीर अम्मन का 'बागो-बहार' (पूर्णतया प्रकाशित 1804 ई.) तथा हाफिजुद्दीन अहमद के खरीद अफ़रोज (1803-1815 ई.) की रचना हुई। इसके बाद सिरामपुर मिशन, स्कूल बुक सोसाइटियों, ईसाई धर्म-प्रचारकों आदि के द्वारा यह भाषागत अंतर मान्यता प्राप्त करता गया। अंग्रेजी शासन व्यवस्था ने जिस नई तरह की 'सार्वजनिक दुनिया' का निर्माण किया और रोजगार आदि के जो नए अवसर सृजित किए उन्होंने भी इस अंतर को पुष्ट ही किया। इसी संदर्भ कें लिए गुलेरी जी ने लिखा था कि ''यदि छापाखाना, प्रांतीय अभिमान, मुसलमानों का फारसी अक्षरों का आग्रह और नया प्रांतिक उद्‌बोधन न होता तो हिंदी अनायास ही देशभाषा बनी जा रही थी। अधिक छपने-छापने, लिखने और झगड़ों ने भी इस गति को रोका।''[21]

गद्य की ही तरह खड़ीबोली कविता के लिए भी गुलेरी जी का मानना है कि ''हिंदुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह ब्रजभाषा या पूर्वी वैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी,

गुजराती आदि ही मिलती है, अर्थात् 'पड़ीबोली' में पाई जाती है।'' गुलेरी जी का यह कथन अपेक्षाकृत अधिक वस्तुनिष्ठ है। फिर भी इसे अंतिम नहीं कहा जा सकता। आचार्य शुक्ल ने इस मत से भी असमहति प्रकट की है। 19वीं सदी के अंतिम दशकों में हिन्दी में कविता के लिए खड़ीबोली का प्रयोग होने लगा। इसके लिए भी उसे संघर्ष के दौर से गुजरना पड़ा। बीसवीं सदी में जाकर ही उसे ब्रजभाषा के आधिपत्य से मुक्ति मिली। पर खड़ीबोली की यह अवस्था लिखित साहित्य के संदर्भ में थी। इसका घालमेल भाषा के सवाल के साथ बिल्कुल न करना चाहिए। शुक्ल जी का प्रसिद्ध कथन है कि 'किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व ही न था।''

ऐसा लगता है जैसे एक बार फिर गुलेरी जी के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए ही वे कह रहें हों कि परम्परागत साहित्य में खड़ीबोली के ग्रहण न होने से -''अभिप्राय लिखित साहित्य का है; कथित या मौखिक का नहीं। कोई भाषा हो, उसका कुछ न कुछ साहित्य अवश्य होता है - चाहे वह लिखित न हो, श्रुति परम्परा द्वारा ही चला आता हो। अत: खड़ीबोली के भी कुछ गीत, कुछ पद्य, कुछ तुकबंदियां खुसरो से पहले से अवश्य चली आती होंगी।''[22] फिर तो नाथपंथी साधुओं से लेकर नामदेव, खुसरो, कबीर और सिखगुरूओं की कविता में खड़ीबोली का कुछ न कुछ प्रभाव दिख ही जाता है।[25] यह परम्परा भले ही बीच-बीच में टूटी हुई और क्षीण रूप में मिलती हो, पर यह बताने के लिए पर्याप्त है कि 'हिंदी को आज जो महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान प्राप्त है, वह उसे यों ही अचानक नहीं मिल गया है। बल्कि वह उत्तर और दक्षिण भारत के राजनीतिक इतिहास एवं सांस्कृतिक हलचल के लम्बे युग के पश्चात मिला है।[24]

गुलेरी जी की उपरोक्त मान्यताओं को अगर ब्रजभाषा - खड़ीबोली-विवाद के कोण से देखें तो स्थिति और स्पष्ट हो जाएगी। खड़ीबोली गद्य और पद्य पर कृत्रिमता का जो आरोप लगाया गया, वह इस विवाद से गहरे तक प्रभावित है। जब यह कहा गया कि गद्य और पद्य की भाषा एक होनी चाहिए और ब्रजभाषा नवीन परिस्थितियों के साथ सामंजस्य नहीं बिठा पा रही है तो विवाद की स्थिति बन गई। पहले तो ब्रजभाषा की काव्य-परम्परा, सरसता और कृष्णभक्ति से उसके जुड़ाव को रेखांकित किया गया। कहा गया कि -

'बरनन को करि सकै भला तिहि भाखा कोटी।
मचलि मचलि जामे मांगी हरि माखन रोटी।''

या फिर

''चाहो रस चाखा तो सीख लेहु भाखा,
जो न जाने ब्रजभाषा ताहि साखामृग जानिए।''[25]

पर जब विवाद बढ़ा तो आरोप-प्रत्यारोप का दौर शुरू हुआ। कभी हिंदी-उर्दू विवाद के समय उर्दू-समर्थकों ने हिंदी को 'गँवारू' भाषा कहा था। अब वही आरोप खड़ीबोली-समर्थकों ने ब्रजभाषा पर जड़ दिया। कहा गया कि ब्रजभाषा वृद्ध हो चुकी है ओर खड़ीबोली को 'मर्दानी जबान' और ब्रजभाषा को 'स्त्रियोचित' गुणों से युक्त बताया गया। जवाब में ब्रजभाषा-समर्थकों ने खड़ीबोली का सम्बन्ध मुसलमानों से जोड़ा ओर उसे 'यावनी', 'मुसलमानी' और 'म्लेच्छभाषा' कहा। खड़ीबोली पर कृत्रिम होने का आरोप लगाया गया। बालमुकुन्द गुप्त, जगन्नाथदास रत्नाकर और भगवानदीन आदि ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर ऐसा कहा। जगन्नाथदास रत्नाकर के अनुसार ''जो भाषा आजकल खड़ीबोली के नाम से जानी जाती है, वह हमारी समझ में उर्दू का ही एक रूपांतर है। आरम्भ में तो वह उर्दू भाषा में 'भाखा' के प्रचलित शब्द रखकर बनाई गई और फिर शनैः-शनैः उसमें संस्कृत के शब्द मिलाए गए।''[26]

यही गुलेरी जी की मान्यताओं का ऐतिहासिक संदर्भ है।

लेकिन खड़ीबोली के लिए यह समस्या कल्पित ही नहीं वास्तविक भी थी। भारतेन्दु पहले ही कह चुके थे कि 'खड़ीबोली में क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घ मात्रा होती है इससे कविता अच्छी नहीं बनती।[27] ग्रियर्सन ने भी इस मत का समर्थन किया।[28] बाद में राधाचरण गोस्वामी ने यह भी जोड़ा कि कवित्त, सवैया आदि हिन्दी के प्रचलित छन्दों में खड़ीबोली का निर्वाह ही नहीं हो सकता। गुलेरी जी ने इस समस्या को अपेक्षाकृत संतुलित दृष्टि से देखा और साहित्यिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कहा कि ''पद्य की भाषा गद्य की तरह से सदा अक्खड़ नहीं हो सकती। उसमें एक प्रकार की लोच व मुड़ने की ताकत सदा चाहिए। यह लोच ब्रजभाषा में ज्यादा है खड़ीबोली में कम। ब्रजभाषा वाले आग को 'आगि' वा 'आगु' करते हैं, खड़ीबोली वालों ने 'आगी' बनाया है।''[29] गुलेरी जी साहित्य के मर्म को तो समझते ही थे, समय के प्रवाह को पहचानते हुए उन्होंने कहा कि व्यर्थ विवाद की कोई आवश्यकता नहीं। इन भाषाओं में जो कविता रची जाएगी, समय आने पर वही निर्णायक होगी। इसीलिए वे लिखते हैं कि ''कोई यह न जाने कि मैं खड़ीबोली की कविता का विरोधी हूँ, मैं उसका समर्थक ही नहीं, परंतु लीक पीटने वाले ब्रजभाषा कवियों का निन्दक भी हूँ।''[30]

1905 ई. में उन्होंने 'बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण' लेख लिखा। उस समय तक खड़ीबोली की कविता मात्रा में भी अल्प थी और उसका स्तर भी कुछ विशेष न था। लक्ष्मीप्रसाद (योगी), महेश नारायण (स्वप्न), रायसोहनलाल और हरसहायलाल की कविताओं ने ब्रजभाषा के समक्ष कोई बड़ी चुनौती पेश नहीं की। अयोध्याप्रसाद खत्री को पूरा सम्मान देते हुए भी गुलेरी जी कहते हैं कि ''वास्तव में खड़ीबोली में अयोध्याप्रसाद और रामदास रायों की जरूरत नहीं है, जरूरत है सूरदासों ओर तुलसीदासों की। ... डायरियों और आन्दोलनों के छपने और खून लगाकर शहीद बनने से यह काम न होगा, यह होगा नए कवियों के जन्मने से। ... जिस दिन किसी सुकवि की शक्ति में खड़ीबोली भी सरस हो जायगी उस दिन ब्रजभाषा चुप रह जाएगी ... कोई सूरदास का सा गारुड़ी आवे, जो खड़ी बोली की अकड़ी नसों और हड्डियों में मोहिनी फूंककर देश भर को मस्त कर दे।''[31] ये विचार श्रीधर पाठक की कविताओं को पृथक रखकर व्यक्त किए गए थे।

गुलेरी जी की बात सत्य सिद्ध हुई। आंदोलनों ने मार्ग तो बनाया पर पहली बड़ी सफलता तब मिली जब श्रीधर पाठक की कविताएं सामने आई। श्रीधर पाठक ने राधाचरण गोस्वामी की चुनौती स्वीकार करते हुए कवित्त, सवैया जैसे छन्दों में खड़ीबोली में रचना की। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने खड़ीबोली में महाकाव्य की रचना कर एक और कसौटी पूरी की। गुप्त जी की 'भारत-भारती' अभूतपूर्व रूप से लोकप्रिय हुई। और 'पल्लव' के प्रकाशन के साथ इस बहस पर पूर्णविराम लग गया। अब खड़ीबोली कविता की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी।[32]

खड़ीबोली का यह स्वीकार साहित्यिक परिघटना मात्र नहीं था। यह तो बाहर की दुनिया में हो रही हलचल को साहित्य में स्वीकृति मिलने जैसा था। सरकारी कामकाज, साहित्यिक और साहित्येतर पत्र-पत्रिकाओं, राजनीतिक जमावड़ों आदि से जिस नई तरह की 'सार्वजनिक दुनिया' का निर्माण हो रहा था, उसमें खड़ीबोली हिंदी अभूतपूर्व रूप से लोकप्रिय हुई। गुलेरी जी के लेखन का बहुत बड़ा हिस्सा इस परिवर्तन का दस्तावेज है। उस समय की बहसों और साहित्यिक गतिविधियों का वे अक्सर 'समालोचक' में नोटिस लिया करते थे। इन बहसों में भाषा का सवाल भी था। गुलेरी जी की कविता 'सोऽहम्' का एक पात्र इसे यों रखता है -

''हिन्दी की कुछ सुनो कहानी
हिन्दू मत की असल निशानी
अपनी भाषा का उद्धार
है सब उद्धारों का सार।''

खड़ीबोली - हिन्दी को स्वीकृति मिलने के बाद अब प्रश्न यह था कि इस 'हिन्दी' का स्वरूप कैसा हो? लिपि का सवाल तो सुलझा ही हुआ था। शब्दावली के स्तर पर गुलेरी जी ने आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत का सहारा लेने का समर्थन किया और अरबी-फारसी शब्दों की आमद का विरोध किया। वे लिखते हैं कि ''हम इस बात के पक्षपाती नहीं हैं कि व्यर्थ संस्कृत शब्दों की भरती की जाय, किंतु संस्कृत आवश्यकता पर हिन्दी की (top root) प्रधान जड़ का काम दे, इसमें क्या आपत्ति है?'' 'हिन्दी-उर्दू की खिचड़ी' बनाने के प्रयास पर वे कहते हैं ''शासनकर्ताओं के हाथ में भाषा बनाना इस ही देश में है .. सरकार के इन यत्नों के सामने हिन्दी के प्रेमी याद रक्खें कि 'नार्मन' समय में अंग्रेजी भाषा में 'फरांसीसी' शब्द बलात्कार से घुसेड़े गए थे किन्तु समय पाकर वे सब निकल गए और अब सैक्सन ही की प्रधानता है।''[33]

संस्कृत के बारे में यह आम मान्यता सी है कि उत्तर भारतीय भाषाएं संस्कृत से निःसृत हैं। गुलेरी जी इस तथ्य की भाषावैज्ञानिक निरर्थकता को समझते थे पर वे यह भी मानते थे कि इन भाषाओं का संस्कृत के साथ प्राकृतिक संबंध है। 'भाषा की भाषा' में वे लिखते हैं कि ''बङ्गभाषा के वैयाकरण संस्कृत की भरमार का सदा विरोध करते आए हैं। हिन्दी वाले भी ठेठ और तद्भव शब्दों के पक्षपाती रहे हैं। मराठी लेखक भी 'देशज' पदों की स्तुति किया करते हैं। फिर क्या कारण है कि तीनों भाषाएं संस्कृत से पेटभर शब्द लिए जाती हैं? इसका कारण ढूंढ़ने को दूर नहीं जाना होगा। इन भाषाओं की नैसर्गिक प्रवृत्ति संस्कृत की ओर है और बच्चे को माता का दूध छुड़ाकर 'मैलन्स फूड' पर पालना कदापि ठीक नहीं होगा''[34] रामचन्द्र शुक्ल और सुनीति कुमार चाटुर्ज्या जैसे विद्वानों ने भी हिन्दी और संस्कृत के इस संबंध को स्वाभाविक माना है। वस्तुत आधुनिक भारतीय भाषाओं के 'संस्कृतीकरण' की इस प्रक्रिया के कारण सिर्फ भाषागत ही नहीं रहे हैं। पर उसकी चर्चा यहाँ यथेष्ट नहीं।

हिंदी और संस्कृत का संबंध एक बात है और हिंदी पर संस्कृत का वर्चस्व दूसरी बात। गुलेरी जी मानते हैं कि संस्कृत से भिन्न हिंदी की अपनी प्रकृति है और उसे बनाए रखना चाहिए। जैसे 'हिंदी में कोई संधि नहीं करता। संस्कृत से जुड़े-जुड़ाए पद ले लिए जाते हैं। ... अतएव हिन्दी में संस्कृत की संधियां Phonetic परिवर्तन माननी चाहिए और सिद्ध शब्द ले लेने चाहिए।''[35] या फिर ''शेर का बहुवचन फारसी में 'अशआर' होता है, उर्दू में विकल्प से और हिंदी में सदा 'शेर' का बहुवचन 'शेरों' होता है। 'रीति' का बहुवचन हिन्दी में कोई 'रीतय:' नहीं

लिखता, सब रीतियां ही लिखते हैं।''[36] आगे चलकर किशोरीदास वाजपेयी ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' में हिन्दी की इसी प्रकृति की पहचान की।

जो भी हो, धीरे-धीरे संस्कृत शब्दावली की मात्रा हिन्दी में बढ़ती गई। इससे उन जनपदीय तत्वों का तेजी से ह्रास हुआ जो हिन्दी की वास्तविक शक्ति थे।[37] कुछ लोकप्रिय लेखकों ने ऐसी सरल भाषा के प्रयोग की कोशिश की जिसमें बोलचाल के अरबी-फारसी के शब्द मिले रहते थे। पर उस समय के आंदोलनरत समाज ने इस प्रवृत्ति का समर्थन नहीं किया। स्वयं गुलेरी जी की टिप्पणी है कि ''पं. किशोरीलाल गोस्वामी ने चन्द्रकान्ताकार की तरह शिवप्रसादी हिन्दी के झण्डे के नीचे खड़ा होना स्वीकार किया है। बाबू अयोध्याप्रसाद, पं. लक्ष्मीशंकर, मिश्र और लाला सीताराम बी.ए. भी हिन्दी के मुन्शी स्टाइल की ओर झुके हुए हैं।''[38] इससे एक समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। आम-जन से संवाद की कोशिश में लगे लेखकों को सरल भाषा का प्रयोग करना ही पड़ता था। पत्र-पत्रिकाओं से जुड़े लेखकों के सामने यह कठिनाई विशेष रूप से थी। मदन मोहन मालवीय 'अभ्युदय' नाम का पत्र निकालते थे। गुलेरी जी को लिखी एक चिट्ठी में वे कहते हैं कि ''अनुवाद में भी और स्वतंत्र लेख में भी भावों को प्रकाश करने के लिए कठिन संस्कृत शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। मुझसे भी सरल भाषा लिखते नहीं बनती आप से भी। लेकिन फिर भी यत्न कर रहा हूँ आप भी कीजिए और जहां तक हो सके सरल भाषा के तद्भव शब्द ओर उन फारसी-अरबी शब्दों का (प्रयोग करें), जो हमारे लेखों को समझा सकें। अभ्यास से यह सिद्ध होगा।''

प्रश्न यह है कि गुलेरी जी के भाषा-चिन्तन में यह विक्षेप क्यों? संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पुरानी हिंदी के संदर्भ में वे जिस वस्तुनिष्ठता से विचार कर सके हैं, खड़ीबोली हिंदी के संदर्भ में वह वस्तुनिष्ठता नहीं दिखती। इसका एक स्वाभाविक कारण तो यह है कि वे अपने समय के आंदोलनों ओर वाद-विवादों से प्रभावित हुए हैं। हिंदी-उर्दू और खड़ीबोली-ब्रजभाषा के बीच जो वाद-विवाद चला, उसकी छाया उनके विचारों पर आसानी से देखी जा सकती है। दूसरा और महत्वपूर्ण कारण यह है कि गुलेरी जी का भाषा-चिन्तन धीरे-धीरे परिपक्व हुआ है। बाबू अयोध्याप्रसाद के स्मरण, केशवराम भट्ट के व्याकरण की समीक्षा और 'भाषा की भाषा' जैसे लेख प्राय: 1904-05 ई. में लिखे गए। उनकी अपेक्षा 'पुरानी हिन्दी' उनकी सबसे परिपक्व और प्रौढ़ कृति है, इसलिए उसे ही प्रमाण मानना चाहिए। विरोधाभास यह भी है कि कई स्थानों पर

'उच्च हिन्दी' और संस्कृत शब्दावली की वकालत करने पर भी स्वयं उनके लेखन में इसका अतिशय आग्रह कहीं नहीं दिखता। यह बात उनके साहित्यिक लेखन के लिए और भी सत्य है। भाषा की प्रवाहमयता और हिंदी की प्रकृति की सही पहचान, दोनों दृष्टियों से गुलेरी जी का साहित्यिक गद्य-कहानियाँ और मौलिक निबंध-भारतेंदु युगीन गद्य की परंपरा का है। जीवंत, जिंदादिल और हँसमुख।

संदर्भ

1. गुलेरी रचनावली खण्ड-2. सं. डॉ. मनोहरलाल, जगतराम एंड संस, दिल्ली, पृ.89 (पुरानी हिंदी निबंध के अंतर्गत)
2. वही, पृ.89-90
3. वही, पृ.90
4. वही, पृ.89
5. ''कामदेव की बात देखिये - पहले उसे शिवजी के तृतीय नेत्र की ज्वाला ने जला दिया, बाकी खाक रही थी वह रति के आंसुओं में बह गई, तो भी वह मेरे चित्त को जलाता है। क्या करूंगी, नामालूम कामदेव के सर पर ये क्या बला की आग लगी, जल बहकर भी जी उठा।'' गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.93
6. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, 2011, पृ.281
7. मोहम्मद हबीब और इरफान हबीब जैसे इतिहासकारों ने दिखाया है कि तुर्कों के आगमन से कागज, भवन निर्माण और वस्त्र उद्योग से सम्बंधित नई प्रौद्योगिकी का प्रयोग शुरू हुआ। इससे रोजगार में वृद्धि हुई। सैन्य शक्ति पर आधारित शासन व्यवस्था और अधिक केन्द्रीकृत हुई। नए राजस्व प्रशासन के जरिए अधिकाधिक कृषि अधिशेष पर कब्जा करना संभव हो गया। इन सबसे शहरी केंद्रों की संख्या लगातार बढ़ती गई।
8. देखें, आलोक राय, 'हिंदी नेशनलिज्म', ओरिएंट लांगमैन, 2000, पृ.87
9. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, 2002, पृ.283
10. 'प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबंध', सं. सत्यप्रकाश मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, 2003, पृ.128
11. रामविलास शर्मा, 'भारत की भाषा समस्या, राजकमल प्रकाशन, 1975, पृ.307
12. रामविलास शर्मा, भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा, राजकमल प्रकाशन, 1975, पृ.180, रामविलास जी कहते हैं कि 'यह गैर टकसाली ब्रज-प्रवाहित हिंदी और उर्दू बड़ी जानदार है'।
13. आलोक राय, हिंदी नेशनलिज्म, पृ.75 से उद्धृत
14. रामचंद्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.284
15. वही, पृ.284
16. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, राजकमल प्रकाशन, 2004, पृ.204
17. गुलेरी रचनावली, खण्ड-1, पृ.371
18. शीतिकंठ मिश्र, खड़ीबोली का आंदोलन, नागरी प्रचारिणी सभा, 1956, पृ.16 से उद्धृत
19. दोनों उदाहरण रामचंद्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ. 283 और 289 से उद्धृत
20. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, पृ.278
21. गुलेरी रचनावली, खण्ड 2, पृ.26

22. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.284

23. यहां पर रामचंद्र शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' से कुछ काव्यपंक्तियां कालक्रम से उद्धृत की जा रही हैं। उन्हें देखने से खड़ीबोली की परम्परा का कुछ न कुछ अहसास अवश्य होता हैं

(क) ''पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लैकरि ठेंगा टंगरी तोरी लंगत लंगत आती थी।' - नामदेव

(ख) ''माइ न होती बाप न होते कर्म्म न होता काया।
हम नहिं होते, तुम नहिं होते, कौन कहां ते आया।।
चंद न होता, सूर न होता, पानी पवन मिलाया।
शास्त्र न होता, वेद न होता, करम कहां ते आया।।'' - नामदेव

(ग) एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औंधा धरा।।
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे।।'' - खुसरो

(घ) ''एक नार ने अचरज किया। साँप मारि पिंजरे में दिया।
जों जों सांप ताल को खाए। सूखे ताल सांप मार जाए।'' - खुसरो

(ड.) ''दिन भर रोजा रहत हैं राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी कैसे खुसी खुदाय। - कबीर

(च) 'बकरी पाती खाति है ताको काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं तिनका कौन हवाल।'' - कबीर

(छ) ''इस दम दा मैनूँ कीबे भरोसा, आया आया न आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना, कहीं देखा, कहीं नहि दिखाया।
सोच विचार करे मत मन में जिसने ढूंढ़ा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद परसे निसदिन राम चरन चितलाया।। - गुरूनानक

24. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृ.182

25. साहित्य सम्मेलन पत्रिका अंक-6, भाग-9 में वियोगी हरि ने अपनी बात इन पंक्तियों के माध्यम से रखी। शीतिकंठ मिश्र, खड़ी बोली का आंदोलन से उद्धृत। इनमें से पहला दोहा संभवत: सत्यनारायण कविरत्न का है।

26. शीतिकंठ मिश्र, खड़ी बोली का आंदोलन, पृ.21

27. देखें, भारतेंदु हरिश्चंद्र, 'प्रतिनिधि संकलन', सं. कमला प्रसाद, प्रधान सं. नामवर सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2006, पृ.144

28. जब अयोध्याप्रसाद खत्री खड़ी बोली के प्रचार में संलग्न थे तो उन्होंने 'खड़ी बोली का पद्य' की एक प्रति ग्रियर्सन को भी भेजी। ग्रियर्सन ने भारतेन्दु के मत को उद्धृत करते हुए कहा कि खड़ीबोली में कविता करने के प्रयास का विशेष अर्थ नहीं।

29. गुलेरी रचनावली, खण्ड-1, पृ.241

30. वही, पृ.242

31. वही, पृ.241

32 अब स्थिति उलट चुकी थी। कभी अपनी काव्ययात्रा के प्रारंभिक दिनों में मैथिलीशरण गुप्त ने महावीर प्रसाद द्विवेदी को एक पत्र में लिखा था कि 'मुझे स्वभाव से ही खड़ीबोली से कुछ अरूचि सी है।' अब, पंचम साहित्य सम्मेलन में गुप्त जी ने सभापति के आसन से घोषणा की कि 'खड़ीबोली में कविता का आग्रह करने वाले लोग राष्ट्रभाषा के जानी दुश्मन हैं।' देखें, शीतिकंठ मिश्र, खड़ी बोली का आंदोलन, पृ.229

33. गुलेरी रचनावली, खण्ड-2, पृ.317-318

34. गुलेरी रचनावली, खण्ड-2, पृ.194-198

35. गुलेरी रचनावली, खण्ड-1, पृ.372

36. वही, पृ.341

37. भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुंद गुप्त जैसे हिंदी के प्रारंभिक लेखकों की विदग्धता, मौलिकता और जिंदादिली का रहस्य यही जनपदीय तत्व थे। फिराक गोरखपुरी ने इन जनपदीय तत्वों वाले तद्भवों को ही भाषा की वास्तविक शक्ति माना है और कहा कि कवि की क्षमता का पता ही इससे चलता है कि वह इन तत्वों का कितना प्रयोग करता है।

    हिंदी और उर्दू ने एक-दूसरे से अलग दिखने की कोशिश में जनपदीय तत्वों को छोड़ना शुरू किया। इसकी तुलना पदम्सिंह शर्मा अधपके बालों वाले ऐसे व्यक्ति से करते हैं, जिसकी दो बीवियां थीं। जवान बीवी ने उसके सारे सफेद बाल नोंच लिए ताकि वह उसकी तरह दिखे और अपेक्षाकृत उम्रदराज बीवी ने उसके सारे काले बाल नोंच लिए ताकि वह उसकी तरह दिखे। (देंखे आलोक राय, हिंदी नेशनलिज्म, पृ.77)

    हिंदी और उर्दू दोनों ने अपने-अपने मानकीकरण की प्रक्रिया में स्वाभाविक भाषा को कृत्रिम बनाना प्रारम्भ कर दिया था।

38. गुलेरी रचनावली, खण्ड-2, पृ.194

39. यह चिट्ठी 24.02.1904 को लिखी गई। देखें गुलेरी रचनावली भाग-2, पृ.421, गुलेरी जी के नाम महामना मदनमोहन मालवीय के पत्र।

चतुर्थ अध्याय

भाषा और व्याकरण

भाषा और व्याकरण

गुलेरी जी संस्कृत के पंडित थे पर भाषा का उनका आदर्श यह था कि ''भाषा वही जो बिना सीखे आवै, जो व्याकरण को अपना दास न बनाकर उसकी दासी बन गई, जिसने ठोकरों से न गिरूं यह विचार कर ली हुई लकड़ी को अपनी अनन्य आधारभूता बैसाखी बना ली, उसे भाषा नहीं कहा जा सकता। लैटिन, ग्रीक प्रभृति भाषाएं अपने अन्तकाल में व्याकरण के परवश बनी हैं, और इसके विरूद्ध अंग्रेजी, फ्रेंच प्रभृति भाषाएं व्याकरण को अपने साथ नचाती हैं।''[1] अपने लेखन के प्रारम्भिक दिनों से ही गुलेरी जी की इस विषय में रूचि थी। यह उद्धरण 1904 ई. का है। नवम्बर 1905 ई. में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख लिखकर हिंदी में भाषा और व्याकरण के संबंध में एक ऐतिहासिक बहस शुरू की। द्विवेदी जी और बालमुकुन्द गुप्त आदि के वाद-विवाद से जो ऊर्जा निकली, उसने गुलेरी जी के साथ-साथ उस समय के तमाम साहित्यकारों को एक संतुलित दृष्टिकोण विकसित करने में मदद की।

लिखित भाषा के लिए व्याकरण को अनिवार्य बताते हुए भी महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा कि ''शब्दों के उत्पन्न होने के बाद व्याकरण उत्पन्न होता है। पहले शब्द, तब अनुशासन - पहले साहित्य, तब व्याकरण। पाणिनि का एक सूत्र है 'अथ शब्दानुशासनम्'। इसका नाम है अधिकार सूत्र यहाँ 'अनुशासन' में जो 'अनु' उपसर्ग है, वह इस बात को सूचित करता है कि शब्दों के अनन्तर उनका शासन किया गया है। अर्थात् पाणिनि ने सदा के लिए शब्दशास्त्र नहीं बनाया; किन्तु उनके समय तक शब्दों के जैसे प्रयोग होते थे, उन्हीं का उन्होंने अनुधावन किया है - उन्हीं के प्रयोग-सम्बन्धी नियम उन्होंने बना दिये हैं।''[2]

द्विवेदी जी ने लिखने और बोलने की भाषा में भेद किया था और दोनों के लिए अलग-अलग सिद्धांत स्थिर किए थे। बोलचाल की भाषा के लिए उन्होंने माना था कि 'व्याकरण भाषा की वृद्धि का अवरोधक है। यह भाषा की सजीवता का नाश करने वाला है। व्याकरण एक प्रकार की बेड़ी है जिससे भाषा का सारी संचरणशीलता चली जाती है।' पर लिखने की भाषा के लिए जरूरी है कि उसमें रोज-रोज बदलाव न हो। उसे अधिक समय तक स्थायी रखने, 'कालसह' बनाने के लिए व्याकरण अनिवार्य है।[3] बालमुकुन्द गुप्त ने इस बात का विरोध किया और कहा कि 'लिखने की भाषा भी वही अच्छी समझी जाती है जो बोलचाल की भाषा हो, मनघड़न्त न हो। उसी को बामुहावरा भाषा कहते हैं। मुहावरे का अर्थ बोलचाल है ... जो लेखक

रोजमर्रह की भाषा नहीं लिख सकते, वह कितनी ही व्याकरणदानी से काम लें उनकी भाषा उन्हीं तक रह जाती है।"[4] इस वाद-विवाद का एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि हर छोटा-बड़ा लेखक भाषा और शब्द-प्रयोग के प्रति अतिशय सावधान हो गया।

उस समय गुलेरी जी अपने लेखों को साथ-साथ 'समालोचक' में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं की प्रगति पर छोटी-छोटी टिप्पणियां भी किया करते थे। द्विवेदी जी से सिद्धान्ततः सहमत होने पर भी उनके 'प्रचण्ड पाण्डित्य' पर उन्होंने लिखा कि यदि 'अनु' होने मात्र से यह अर्थ निकाला गया है तो अनुष्ठान - पीछे खड़े होना, अनुमान - पीछे नापना, अनुसार - पीछे रेंगना, अनुरोध - पीछे रोकना भी मानना चाहिए। साथ यह भी कि 'अथ शब्दानुशासनम्' पाणिनि का नहीं पतंजलि के महाभाष्य का पहला वाक्य है।[5] द्विवेदी जी को यह बात बड़ी नागवार गुजरी। उन्होंने कहा कि जिसके नकल किए हुए श्लोक में इम्ला की गलतियां तक उन्हें सुधारनी पड़ी हों, उसे 'शब्द-कौम्तुभ का कंठा' उतारकर रख देना चाहिए और अनुगमन, अनुसरण, अन्वक्ष, अनुचर-अनुपद और अनुज शब्दों का अर्थ याद करना चाहिए।[6] एक-एक शब्द के प्रति इतने गम्भीर विचार-विलेषण के दूरगामी परिणाम हुए।

बालमुकुन्द गुप्त की तरह गुलेरी जी के लिए भी बोलचाल की भाषा आदर्श थी। इसीलिए वे व्याकरण की विशेष हिमायत नहीं करते है। संस्कृत का उदहारण देते हुए वे कहते हैं कि "इस तिहरी जकड़न में (पाणिनि-कात्यायन-पतंजलि) संस्कृत भाषा का अङ्ग-भङ्ग हो गया और पतञ्जलि के पीछे के वैयाकरणों का इतिहास उन्नति का नहीं, अवनति का है। ... भाषा की लहलहाती बेल को धूप और बरसात से बचाने के लिए जिस ग्लास-केस में बन्द किया था, उसने भाषा की सांस घोंट दी, वा यों कहिए कि बुढ़िया संस्कृत भाषा व्याकरण की लाठी के इतनी अधीन हो गई कि स्वच्छन्दता से चल-फिर न सकी।"[7]

भाषा और व्याकरण के सवाल पर गुलेरी जी ने केवल शास्त्रबद्ध ढंग से विचार न किया था। व्याकरण के स्थान पर वे भाषा के लोकव्यवहार को वरीयता देते थे। इसका व्यवहारिक कारण भी था। वे रचनात्मक लेखन की ओर झुक रहे थे और पत्र-पत्रिकाओं के संपादन आदि से भी जुड़े थे। ऐसे में सम्प्रेषण का महत्व उन्हें बखूबी समझ में आया। शास्त्रबद्ध शुष्क भाषा का प्रयोग विषय, को या तो छोटे से पंडित-वर्ग तक सीमित कर देता है या स्वान्तः सुखाय होकर रह जाता है। पग-पग पर व्याकरण की बंदिशों का पालन तो उसी भाषा में किया जा सकता है, जिसे

लोग अपने बोलचाल में इस्तेमाल न करते हों। वे केशवराम भट्ट के उस मत का समर्थन करते हैं कि यदि 'संस्कृत भी आज प्रचलित भाषा होती तो पाणिनीय व्याकरण भी कभी ऐसा पत्थर की लकीर न होता।' व्याकरण के महत्व से भलीभांति परिचित होने के बावजूद वे लिखते हैं कि 'व्याकरण की जड़ पर भाषा बढ़ती है सही, किन्तु यदि उन जड़ों को गिनकर, नाप-तौलकर, जांचकर बढ़ने से रोका जाय और अन्धकार में से निकालकर सबको उंगलियों के नीचे रक्खा जाय, तो वे न बढ़ेंगीं और बेल के बढ़ने की आशा नहीं करनी चाहिए भाषा वही जो बिना सीखे आवै।''[8]

संस्कृत की परंपरा से परिचित व्यक्ति गुलेरी जी के इस स्वच्छंद चिंतन के महत्व को भलीभांति समझ सकता है। फिर गुलेरी जी तो इस परम्परा में प्रशिक्षित भी थे। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में जब यह बहस आकार ले रही थी, अधिकांश साहित्यकार संस्कृत व्याकरण को अपने सामने आदर्श रूप में रखते थे। इसलिए संस्कृत और उसके व्याकरण के संबंध को समझना जरूरी है। संस्कृत में वैयाकरणों, विशेषकर पाणिनि के नियम आर्षवाक्य माने जाते हैं। पाणिनीय का अर्थ ही शुद्ध हो गया है। 'पुरानी हिन्दी' में एक प्रसंग में गुलेरी जी लिखते हैं कि ''ऐसा (पाणिनि-सा) सर्वांगसुन्दर पूर्ण व्याकरण किसी काल में किसी भाषा में न बना। ... विभु आकाश, समुद्र या विष्णु की तरह पाणिनि के व्याकरण की नाप न ईदृक्ता से हो सकती है न इयत्ता से। जैसे पाणिनि अपने पहले के सब संस्कृत वैयाकरणों का संघात है, वैसे ही वह अपने पिछले सब वैयाकरणों का उद्गम है।''[9] पाणिनि के महत्व को स्वीकार करने के बाद वे अष्टाध्यायी संबंधी उन रहस्यवादी मान्यताओं और अंधविश्वासों का प्रत्याख्यान करते हैं, जिनमें कहा गया है कि शिवजी के हुंकार-वज्र या विश्वामित्र के अनुग्रह से उसने यह ख्याति पाई। 'पाणिनि को जलाने, शिवकोप व विश्वामित्रानुग्रह की आवश्यकता न थी।' गुलेरी जी के अनुसार पाणिनि ने कुछ बातें पहले के वैयाकरणों से ग्रहण कीं, कुछ खुद चलाईं पर उसकी असली शक्ति उसकी लोकोन्मुखता में निहित थी। पाणिनि को अपने समय, समाज और मुहावरों की अद्भुत जानकारी थी। ''विपाशा के उत्तर तीर के वाहीक ग्रामों के कूप; पार्श्व, यौधेय आदि आयुधजीवी गण; ऋषियों और राजाओं के पितृक्रमागत नाम, नए और पुराने ब्राह्मण और कल्पसूत्र, उत्तरी और पूर्वी वाग्धारा के भेद; देखे हुए, बनाए हुए और कहे हुए वेद तथा ग्रंथ, यवनों की लिपि, सौवीर, साल्व और पूर्व की नगरियाँ तथा संकल का बनाया नगर, पशुओं के कानों पर पहचान के लिए बनाए गए चिह्न, द्यूत के खेल - कोई उसकी दृष्टि से न बचा।''[10] वैयाकरण

का लक्ष्य भाषा है और अपने लक्ष्य की इतनी विशद जानकारी से ही पाणिनि 'अष्टाध्यायी' जैसा लक्षण-ग्रंथ रच सका।

पाणिनि के महत्व को स्वीकार करते हुए भी गुलेरी जी बार-बार रेखांकित करते हैं कि भाषा पहले है और व्याकरण बाद में। इस सत्य को न मानने वाले लोगों ने कालांतर में व्याकरण को वरीयता देना प्रारम्भ कर दिया था, ऐसे लोगों के लिए ही वे लिखते हैं कि ''जिन्होंने खान से निकला सोना नहीं देखा, टकसाल की मुहरवाले सिक्के ही देखे हैं, उनकी बोलचाल में अपाणिनीय का अर्थ अशुद्ध हो गया। पूर्व में सूर्य उगता है यह लोग भूल चले, सूर्य जिधर उगता है वही पूर्व है यह माना जाने लगा। व्याकरण और पाणिनि का अभेद संबंध हो गया, व्याकरण का या भाषा का अध्ययन न होकर पाणिनि का अध्ययन होने लगा। शब्द इसलिए साधु नहीं है कि वह प्रयुक्त है, इसलिए साधु है कि पाणिनि ने वैसा बनाना बताया है। लक्ष्यैकचक्षुष्क लोग घट गए, लक्षणैकचक्षुष्क बढ़ गए।''[11]

भाषा और व्याकरण का यह वही संबंध है जिसकी ओर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संकेत किया था। आगे चलकर किशोरीदास वाजपेयी ने भी इस बात पर जोर दिया कि व्याकरण लक्ष्यप्रधान शास्त्र है और वह 'शब्दानुशासन' है 'शब्दशासन' नहीं। वस्तुतः इस अर्थ में व्याकरण का काम सिर्फ इतना है कि वह भाषा के लोकप्रचलित प्रयोगों का निरीक्षण करे। उनमें निहित समानता-असमानता के आधार पर नियमों को स्थिर करे। जितनी सफलता से प्रचलित भाषा के सम्बन्धसूत्रों का रेखांकन हो सकेगा व्याकरण उतना ही स्थायी होगा। इसीलिए गुलेरी जी लिखते हैं कि ''व्याकरण के सूत्र कोई नई चीज नहीं बना सकते। वे जो हैं उसी को नियम से रख देते हैं। 'अमुक सूत्र से ऐसा हुआ' इसकी जगह वैज्ञानिक रीति से यही कहना चाहिए कि 'ऐसा भाषा में होता है, उसका उल्लेख अमुक सूत्र में कर दिया गया है।''[12]

नामवर सिंह ने लिखा है कि ''पाणिनि के व्याकरण ने गुलेरीजी को जिस तरह अन्धविश्वास तथा रहस्यवाद से मुक्त रहने की दृष्टि दी, उसी प्रकार एक ऐतिहासिक दृष्टि भी दी।''[13]इस ऐतिहासिक दृष्टि का प्रयोग उन्होंने स्वयं पाणिनि के व्याकरण पर भी किया। गुलेरीजी का मानना है जिस संस्कृत भाषा का विवेचन 'अष्टाध्यायी' में किया गया है वह पाणिनि के समय जन भाषा थी। पाणिनि ने इसी भाषा को आधार बनाया और प्रायः वैदिक भाषा का विवेचन अपवाद की तरह किया। इससे भाषा के ऐतिहासिक स्तरों का पता लगाया जा सकता है। जैसे

पाणिनि ने 'ब्रू' के कुछ रूपों की जगह 'आह' का होना, 'हन्' का 'वध्' हो जाना और 'अस्' का 'भू' हो जाना कहा है। गुलेरी जी के अनुसार इसका यही ऐतिहासिक अर्थ है कि 'आह', 'अस्' और 'वध्' धातुओं के पहले पूरे रूप होते होंगे, उस समय ये धातु अधूरे रह गए थे, पाणिनि ने उन्हें उसी अर्थ के और धातुओं के रूपों में मिला दिया।

वे एक और उदाहरण देते हैं - 'पाणिनि के सूत्र से अल्पीयस् और यवीयस् की जगह 'कनीयस्' और 'अल्पिष्ठ' और 'यविष्ठ' की जगह 'कनिष्ठ' हो जाता है। इसका ऐतिहासिक अर्थ यह है कि 'कन्' का जिसका अर्थ छोटा है, अकेले विशेषण की तरह उस समय तक व्यवहार होना बन्द हो गया था। पर 'कन्या' में वह मौजूद है। नेपाली कान्-छा (छोटा), हिंदी कन् + अंगुरिया, नारंगी की 'कन्नी' फाँक आदि में वह 'कन्' चलता आया है'। प्राकृत और अपभ्रंश के प्रसंग में भी गुलेरी जी भाषा के स्तरों को जानने की ओर प्रवृत्त हुए हैं। पहले और दूसरे अध्याय में इसकी चर्चा की गई है।

गुलेरी जी ने कात्यायन और पतंजलि को पाणिनि की ही परम्परा में माना है। पाणिनि के समय जो जनभाषा थी वह धीरे-धीरे एक सीमित 'शिष्ट-समाज' की भाषा बनकर रह गई। साहित्यिक रचनाओं में उसका प्रयोग होता रहा पर लोक के बीच भाषा का प्रवाह आगे बढ़ गया। पतंजलि ने एक 'गो' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि कई अपभ्रंशों का उल्लेख किया है। कात्यायन और पतंजलि ने पाणिनि व्याकरण के मूल ढांचे को स्वीकार किया, साथ ही भाषा के इस प्रवाह का भी ध्यान रखा। ''यह व्याकरण के 'त्रिमुनि' हुए, इनका एक ही सम्प्रदाय रहा, इस सम्प्रदाय में ऐतिहासिक विवेक की वह बात उदारता से चली जो और किसी हिन्दू शास्त्र में नहीं चली अर्थात् **यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्**। पाणिनि से कात्यायन, कात्यायन से पतंजलि अधिक प्रमाण। और सब जगह इससे उलटा है।''[14]

पर धीरे-धीरे पाणिनिपूजा बद्धमूल हो गई। लक्षणग्रंथ प्रधान हो गए और लक्ष्य पीछे रह गया। इसका प्रभाव अच्छा नहीं हुआ। वस्तुतः तत्कालीन समाज के लिए संस्कृत और संस्कृत-व्याकरण कभी भी केवल भाषा का मसला नहीं रहा। संस्कृत 'देववाणी' बन गई थी और व्याकरण 'वेदांग'। जैसे-जैसे भाषा का प्रवाह आगे बढ़ा, जनता के बीच संस्कृत का प्रभुत्व टूटा और प्राकृत, अपभ्रंश आदि नई-नई भाषाएं समय-समय पर सामने आईं। पर पण्डितों, शासन-सत्ता और उच्चवर्ग के मध्य संस्कृत का प्रभा मंडल बना रहा। आज की तरह बोलचाल की भाषाओं

का अध्ययन करने की ओर उस समय विद्वानों का ध्यान न गया था। इन नई उभर रही भाषाओं को जन-आकांक्षाओं का समर्थन भी मिला होगा। कभी-कभी राज्याश्रय भी मिला होगा। अपना 'व्याकरण' पाने के लिए इन भाषाओं को लम्बी दूरी तय करनी पड़ी होगी। क्योंकि केवल उसी भाषा को व्याकरणबद्ध करने की परम्परा रही है, जिसका साहित्य उपलब्ध हो। कामताप्रसाद गुरू और किशोरीदास वाजपेयी ने अपने व्याकरण-ग्रंथों की भूमिकाओं में रेखांकित किया है कि लिखित भाषा (प्रायः साहित्यिक भाषा) को ही व्यवस्थित करने की आवश्यकता होती है, जिससे व्याकरण का जन्म होता है।[15] यों बोलचाल की भाषाओं को पहले लिखित रूप ग्रहण करना पड़ा होगा और जब उनमें साहित्य की रचना होने लगी होगी तब वे 'व्याकरण' के योग्य बनी होंगी। इसमें और भी कारकों का प्रभाव पड़ा होगा। उदाहरण के लिए गुलेरी जी लिखते हैं कि ''हिंदुओं के वेदांग पाणिनि व्याकरण से ही हमारा काम क्यों चले इसलिए बौद्ध, दिंगबर जैन और श्वेतांबर जैन व्याकरण बनाए गए।''[16] हेमचंद्र के व्याकरण ग्रंथ 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' के लिए भी ऐसी ही एक कथा प्रचलित है, जिसमें भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' से ईर्ष्या करते हुए सिद्धराज जयसिंह ने एक नए व्याकरण की रचना करवाने की ठान ली।[17]

जो भी हो, संस्कृत-व्याकरणों का प्रभाव इतना ज्यादा था कि जब प्राकृत के व्याकरण रचे गए तो वे भी संस्कृत-व्याकरण के ढाँचे का आधार बनाकर ही आगे बढ़े। गुलेरी जी लिखते हैं कि ''प्राकृत व्याकरणों ने बद्धमूल संस्कृत को प्रकृति मानकर बद्धमूल प्राकृत का व्याकरण लिखा। संस्कृत से क्या-क्या परिवर्तन होते हैं, उन्हीं को गिना है। प्राकृत को भाषा मानकर नहीं चले।''[18] हेमचंद्र इसी अर्थ में कह गया है कि 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं, तत आगतं वा प्राकृतम्।' प्रथम अध्याय में इस संदर्भ की चर्चा की जा चुकी है। इसका मुख्य कारण गुलेरी जी यह मानते हैं कि इन प्राकृत व्याकरण-ग्रंथों की 'लक्ष्य प्राकृत भी किताबी अर्थात् जड़ प्राकृत थी।' ऐसे ग्रंथ स्वाभाविक भाषा को आधार बनाकर नहीं चले। यहां तक कि ये व्याकरण-ग्रंथ किसी एक प्राकृत (प्रायः शौरसेनी या महाराष्ट्री) के आधार पर ही रचे गए हैं। अन्य प्राकृतों को इनके भेद की तरह दर्शाया गया है और उन पर विशेष विचार नहीं किया गया है।

इसीलिए गुलेरी जी को हेमचंद्र के व्याकरण ग्रंथ 'सिद्धहैमचन्द्रशब्दानुशासन' में यह 'ऐतिहासिक विवेक' की बात दिखी कि ''और वैयाकरणों की तरह वह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक-उपयोगी अंश को अपने ढचर में बदलकर ही संतुष्ट न रहा, पाणिनि के समान

पीछा नहीं तो आगा देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया।''[19] इस 'ऐतिहासिक विवेक के साथ-साथ गुलेरी जी ने हेमचंद्र की लोकोन्मुखता को भी रेखांकित किया है। अपभ्रंश कविता उस समय पंडित वर्ग में विशेष प्रचलित न रही होगी इसलिए हेमचंद्र ने 'संस्कृत और दूसरी प्राकृतों के व्याकरण में उदाहरणों की तरह प्रायः वाक्य या पद ही दिए हैं किंतु अपभ्रंश के अंश में उसने पूरी गाथाएं, पूरे छन्द और पूरे अवतरण दिए हैं। यों उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रक्खे जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते।' भाषा और व्याकरण के संबंध में भी हेमचन्द्र ने इस बात को ध्यान में रखा है। जैसे हेमचन्द्र कहते हैं कि - ''कृष्ट, घृष्ट, वाक्य, विद्वस, वाचस्पति, विष्टरश्रवस् आदि शब्दों का, जिन्हें पहले कवियों ने प्रयोग नहीं किया, (प्राकृत में) प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि वैसा करने से प्रतीति में विषमता आती है। दूसरे शब्दों से ही उनका अर्थ कहा जाय जैसे कृष्ट के लिए 'कुशल' वाचस्पति के लिए 'गुरू', विष्टरश्रवा के लिए 'हरि' इत्यादि।''[20]

इसका अर्थ यह है कि प्राकृत के व्याकरण ग्रंथों में जो ध्वनि-परिवर्तन या रूप-परिवर्तन आदि के नियम दिए गए हैं, उनके आधार पर हर संस्कृत शब्द को 'तद्भव' या 'प्राकृत' में नहीं बदला जा सकता। जो शब्द कवि-परम्परा में ग्रहीत हैं, लोक में व्यवहृत हो रहे हैं, नियम उन्हीं का विवेचन करते हैं, उन्हीं नियमों से नए शब्द नहीं बनाए जा सकते। गुलेरी जी ने कई स्थानों पर महाभाष्यकार पतंजलि का यह मत उद्धृत किया है कि जैसे कुम्हार के यहां जाकर कह आते हो कि घड़े की जरूरत है, घड़ा बना दो, वैसे वैयाकरण के यहाँ जाकर कोई नहीं कहता कि शब्द गढ़ दो, हमें प्रयोग करना है। यहाँ भी वही बात कि भाषा पहले अपने स्वाभाविक रूप में लोक में प्रवाहित होती रहती है और फिर नियम उन प्रयोगों के सम्बन्ध-सूत्रों और एकरूपता आदि की तलाश करते हैं। इसी बात का समर्थन करते हुए किशोरीदास वाजपेयी कहते हैं कि 'नैसर्गिक प्रवाह में शब्दों का उच्चारण सौकर्य और श्रवण-माधुर्य बढ़ जाता है पर उनकी नकल पर यदि कोई शब्दों को तोड़-मरोड़ कर नया रूप देने का प्रयत्न करे तो उसकी प्रशंसा न होगी। उस तरह बलात् तोड़े-मरोड़े शब्दों को 'विकृत' ही कहा जाएगा, 'विकसित' नहीं। कली का स्वतः खिलना 'विकास' है ओर उसकी पंखड़ियों को नोच कर उभाड़ देना उसे विकृत कर देना है।[21]

भाषा और व्याकरण के प्रसंग में गुलेरी जी की रूचि 'देशज' शब्दों में विशेष रही है। उन्होंने प्रदर्शित किया है कि संस्कृत और प्राकृत भाषाएं समय-समय पर स्वयं को देशी के भंडार

से समृद्ध करती रही हैं। यह परम्परा अपभ्रंश में भी दिखती है, 'तत्सम' शब्दों की, जिन्हें 'संस्कृतसम' 'तत्तुल्य' और 'समान' शब्द भी कहते हैं, पहचान मुश्किल नहीं रही। पर 'तद्भव' शब्दों को, जिन्हें 'संस्कृतभव', 'संस्कृतयोनि', 'तज्ज', या 'विभ्रष्ट' शब्द भी कहते हैं, पहचानना आसान नहीं रहा। प्राय: लोप, आगम या वर्णविकार आदि से इनका संबंध तत्सम शब्दों से जोड़ा जाता है। पर कई विद्वानों का मानना है कि वास्तविक 'तद्भव' शब्द तो वे ही हैं, जो परम्परा के प्रवाह और लोकप्रयोग से घिस गए हैं। व्याकरण के नियमों को ध्यान में रखकर जो शब्द कृत्रिम रूप से निर्मित किए गए हैं, वे तद्भव नहीं 'भ्रष्ट' शब्द है। रामविलास शर्मा का कहना है कि नर-नारी के स्थान पर 'णर-णारी', अधर का 'अहर' लोचन-लोअण, विकाल-विआल, बल-वलुल्लड़ा, कान-कन्नडइ, कुल-उल जैसे परिवर्तन तद्भव से अधिक (अपभ्रंश नाम सार्थक करने वाले) भ्रष्ट रूप हैं।[22]

देशी शब्दों की समस्या इससे भी जटिल है। पिशेल लिखता है कि ''देश्य अथवा देशी वर्ग में भारतीय विद्वान परस्पर विरोधी तत्व सम्मिलित करते हैं। वे इन के भीतर वे सब शब्द रख लेते हैं जिनका मूल उनकी समझ में संस्कृत में नहीं मिलता। संस्कृत भाषा के अपने-अपने ज्ञान की सीमा के भीतर या शब्दों की व्युत्पत्ति निकालने में अपनी कम या अधिक चतुराई के हिसाब से देश्य शब्दों के चुनाव में नाना मुनियों के नाना मत है।''[23] इन देशी शब्दों में क्रियावाचक शब्द बहुतायत से मिलते हैं, इन्हें वैयाकरण धात्वादेश अर्थात् संस्कृत धातुओं के स्थान पर बोलचाल की धातु कहते हैं। हेमचंद्र ने अपनी 'देशीनाममाला' में क्या लिया है, क्या नहीं लिया, एक स्थान पर इसका उल्लेख किया है। पिशेल की तरह गुलेरी जी ने भी उसके यादृच्छिक चयन पर आपत्ति की है। वे लिखते हैं कि ''धातुओं में हेमचन्द्र ने बड़ा अद्भुत काम किया है। एक धातु प्रधान मान लिया है। उसी अर्थ के और धातुओं को उसका आदेश मानकर झगड़ा तै किया है। जैसे कहइ (कथयति) धातु माना, अब बज्जरइ, पज्जरइ, उप्पालइ, पिसुणाइ, संघइ, बोल्लइ, चवइ, जंपइ, सीसइ, साहइ को विकल्प से 'कहइ' का आदेश कह दिया है। उब्बुकइ को इनमें नहीं गिना क्योंकि उसे उत्+बुक से निकला माना है। यों देखा जाय तो बज्जरइ उज्जरति से, पज्जरइ, प्रोच्चरति से, पिसुणइ पिशुनयति से, संघइ संख्याति से, जंपइ जल्पति से निकल सकता है। फिर हेमचन्द्र कहते हैं कि 'औरों ने इन्हें देशी शब्दों में पढ़ा है किन्तु हमने धात्वादेश कर दिया कि विविध प्रत्ययों में प्रतिष्ठित हो जायँ, ऐसा करने से बज्जरिओ - कथित, बज्जरिऊण - कथयित्वा आदि हजारों रूप सिद्ध हो जाते हैं।'' यह तो मनमानी हुई या तो इन्हें स्वतन्त्र धातु मानते, या

इनके तदभव और देशी की छाँट करते।''[24] यहाँ पर पतंजलि का कुम्हार और घड़े वाला उद्धरण देकर गुलेरी जी वैयाकरणों को सावधान करते हैं। वे कहते हैं कि इनमें से बहुत सारी धातुएं वस्तुतः देशी धातुएं हैं यह ध्यान रखना चाहिए। ''देशी के भंडार में से संस्कृतवाले 'संस्कृत' करके और प्राकृतवाले यों ही लेते रहे। पहलों ने यह नहीं कहा कि हमने लिया, वे यही कहते गए कि हमारा ही है। दूसरों ने देशी और तद्भवों की छांट न की, क्योंकि तद्भवों को अपने थोड़े से नियमों से ही बंधा माना।''[25] प्रायः विद्वानों ने 'साहित्यिक भाषाओं के दाय की ही व्याख्या की है, जबकि यहाँ गुलेरी जी का जोर इस बात पर है कि लोकभाषा के अगाध भण्डार से ही इन साहित्यिक भाषाओं में समय-समय पर जीवन का संचार हुआ है। पिशेल ने भी इस मत का समर्थन करते हुए कहा था कि प्राकृत की ऐसी बहुत सारी धातुऐं हैं, जिनका ''मूल रूप संस्कृत में बहुधा नहीं मिलता पर आधुनिक भारतीय भाषाओं के धातु इनसे पूरे मिलते-जुलते हैं। जैसा कि देशी शब्द के नाम से ही प्रकट है, ये शब्द प्रादेशिक शब्द रहे होंगे और बाद को सार्वदेशिक प्राकृत में सम्मिलित कर लिए गए होंगे।''[26]

वस्तुतः यहीं 'ऐतिहासिक विवेक' की वह परम्परा है जो भाषा को व्याकरण से पहले रखती है और लोक-व्यवहृत भाषा को नियमों पर तरजीह देती है। व्याकरण के नियम भाषा को ध्यान में रखकर बनाए अवश्य जाते हैं, पर एक बार जब व्याकरण आकार ले लेता है तो वह भाषा पर 'शासन' करने का भी प्रयास करता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है कि यथार्थ जगत से विचारों का निर्माण होता है, फिर ये विचार यथार्थ जगत को नियमित और प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। शेल्डन पोलॉक ने इसे एक भिन्न संदर्भ में 'यथार्थ का नियमन' (Normativity of Actual) और 'नियमन का यथार्थ' (Actuality of Normative) कहा है। इस तरह भाषा और व्याकरण के बीच का यह एक द्वंद्वात्मक संबंध है। हिन्दी में भाषाचिंतन की एक परम्परा रही है, जिसने भाषा को हमेशा प्राथमिक, लक्ष्य और आधारभूत माना है। साथ ही जनभाषा को साहित्यिक भाषा पर वरीयता दी है। गुलेरी जी भाषाचिंतन की इसी परम्परा के प्रतीक हैं।

संदर्भ-सूची

1. गुलेरी रचनावली : खण्ड एक, सं. मनोहरलाल, जगतराम एण्ड संस, दिल्ली, 2009, पृ. 370
2. हिन्दी की अनस्थिरता : एक ऐतिहासिक बहस, सम्पादक - भारत यायावर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 1993, पृ.11
3. हिन्दी की अनस्थिरता : एक ऐतिहासिक बहस, पृ.13-14
4. वही, पृ.64
5. गुलेरी रचनावली, खण्ड एक, पृ.433
6. हिन्दी की अनस्थिरता : एक ऐतिहासिक बहस, पृ.44 द्विवेदी जी के पहले लेख पर जो वाद-विवाद हुआ, उसके उत्तर में उन्होंने फरवरी, 1906 ई. में 'भाषा और व्याकरण' निबंध पर किए गए आक्षेपों के उत्तर शीर्षक से यह दूसरा लेख लिखा।
7. गुलेरी रचनावली, खण्ड 1, पृ.370
8. वही
9. गुलेरी रचनावली, खण्ड 2, पृ.93-94
10. वही, पृ.95-96
11. वही, पृ.96
12. वही, पृ.110
13. नामवर सिंह, हिंदी का गद्यपर्व, राजकमल प्रकाशन, 2010, पृ.110
14. गुलेरी रचनावली, खण्ड 2, पृ.99
15. कामताप्रसाद गुरू ने लिखा है कि ''व्याकरण के नियम बहुधा लिखी हुई भाषा के आधार पर निश्चित किए जाते हैं, क्योंकि उनमें शब्दों का प्रयोग बोली हुई भाषा की अपेक्षा अधिक सावधानी से किया जाता है। व्याकरण में वे नियम समझाए जाते हैं जो शिष्ट जनों के द्वारा स्वीकृत शब्दों के रूपों और प्रयोगों में दिखाई देते हैं। देखें कामताप्रसाद गुरू, हिंदी व्याकरण, प्रकाशन संस्थान, 2011

    किशोरीदास वाजपेयी के मत के लिए देखें 'हिन्दी शब्दानुशासन, पूर्व पीठिका, पृ.3
16. गुलेरी रचनावली, खण्ड 2, पृ.101
17. देखें, शेल्डन पोलॉक, 'द लैंग्वेज ऑव गॉड इन द वर्ल्ड ऑव मेन: संस्कृत, कल्चर एण्ड पावर इन प्रि मॉडर्न इंडिया, परमानेंट ब्लैक, 2007, पृ.181-182 और 588-590 पोलॉक ने यह कथा 'प्रभावकचरित' से उद्धृत की है। गुलेरी जी ने 'कुमारपाल प्रबन्ध' से भी ऐसी ही एक कथा उद्धृत की है।

18. गुलेरी रचनावली, खण्ड 2, पृ.110-111
19. वही, पृ.102
20. वही, पृ.70
21. किशोरीदास वाजपेयी, हिन्दी शब्दानुशासन, नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् 2055 वि. (1998 ई.), पृ.43
22. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2002, पृ.233
23. आर. पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनु. हेमचन्द्र जोशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1958, पृ.13
24. गुलेरी रचनावली, खण्ड 2, पृ.112-113
25. वही, पृ.113
26. आर.पिशल, पृ.14

पंचम अध्याय

शब्द-कौस्तुभ का कण्ठा

शब्द-कौस्तुभ का कण्ठा

गुलेरी जी शब्दों के अन्वेषी थे। जिन दर्जन भर छद्मनामों से वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखते थे, उनमें से एक था - 'शब्द-कौस्तुभ का कण्ठा'।[1] शब्दों के इतिहास-भूगोल को जानने में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। गुलेरी जी कोई भी लेख लिख रहे हों, उन्हें मनचाहा शब्द दिख भर जाए यानी ऐसा कोई शब्द जो उन्हें चुनौती दे रहा हो, आमंत्रित कर रहा हो, तो फिर वे उस शब्द के अतीत को खंगालने उतर जाते हैं, उसके भिन्न-2 सांस्कृतिक संदर्भों को परखते हैं और अंत में उसके समांतर आज के बोलचाल की भाषाओं का कोई शब्द मिल जाए तो सोने पे सुहागा। पुरातत्व, विज्ञान, धर्म, समाज और राजनीति कोई भी विषय हो - शब्दों का विश्लेषण ही उनकी प्रधान पद्धति रही है। और इस पद्धति में उनके लिए शब्द की व्युत्पत्ति मुख्य नहीं है, मुख्य है उसकी अर्थछटाएँ। इसलिए वे निरुक्त की उस परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं, जो शास्त्र की बजाय लोक को (प्रधान) मानती है।

जिस तरह गुलेरी जी के लिए भाषा पहले है व्याकरण बाद में उसी तरह वे जानते हैं कि शब्द पहले हैं और उनका संस्कार बाद में किया गया है। लोक व्याकरण के नियमों को ध्यान में रखकर शब्दों को नहीं गढ़ता। कुछ शब्द अनुकरण या ध्वनिसाम्य के आधार पर गढ़ लिए जाते हैं और कुछ शब्द अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग अर्थों के लिए रूढ़ हो जाते हैं। ऐसे शब्द तो हमारे आस-पास बिखरे पड़े हैं जो आज अपने मूल अर्थ में प्रयोग नहीं किए जाते। संज्ञा-नामों से साधारण गुणनाम भी बनते ही हैं। और फिर विदेशी भाषाओं के शब्दों का क्या किया जाए? इसीलिए गुलेरी जी कहते हैं कि हर बार 'व्युत्पत्ति' की ओर भागना 'पाण्डित्य का अजीर्ण' और 'बेसमझी की टक्कर' है। वे एक कहावत उद्धृत करते हैं -

> ''उणादि का प्रत्यय आया डुलक, डियां डौलाना;
> मा धातु से सिद्ध हुआ मुलक, मियाँ मौलाना''।[2]

शब्दों के अध्ययन में प्राय: यही पद्धति अपनाई जाती है कि संस्कृत शब्दों का क्षय या ह्रास कैसे हुआ, उनसे 'अपभ्रंश' शब्द कैसे बने फिर लोप, आगम और विकार आदि के द्वारा आधुनिक भाषा के शब्दों से उनका सम्बन्ध स्थिर कर दिया जाता है। शब्द या तो संस्कृत शब्दों के समान - 'तत्सम' होते हैं या फिर संस्कृत से उपजे हुए - तद्भव। जो शब्द येन-केन-प्रकारेण तत्सम या

तद्भव सिद्ध नहीं किए जा सकते वे ही 'देशी' के खाते में डाल दिए जाते हैं। गुलेरी जी इस 'धारा के विपरीत' चलते हैं। उनकी रूचि इसी 'देशज' में है। वे कहते ही हैं कि ''रूचि की तो बात है, किसी को कश्मीर की कुराई के काम से सजा अखरोट की लकड़ी का सुढंग तख्ता अच्छा लगता है, किसी को हरी कोंपलों से लदी-फंदी टहनी।''[3]

इस संदर्भ में 'पुरानी हिन्दी' में गुलेरी जी ने 'जैन संस्कृत' की चर्चा की है। 'इसकी मनोहारिता यह है कि जैन लेखक 'गुजराती' या 'देशभाषा' में सोचते थे और लिखते थे संस्कृत में।' ऐसे में कई देशज शब्दों की तर्ज पर संस्कृत शब्द गढ़े गए, देशी भाषा के मुहावरों की छाया संस्कृत भाषा पर पड़ी। वे एक उदाहरण देते हैं कि ''हेमचन्द्र लिखते हैं 'स कालं यदि कुर्वीत को (कां) लभेत् ततो गतिम्'। मरने के अर्थ में 'काल करना' संस्कृत का मुहाविरा तो है नहीं, देशभाषा का है। मंजे-छटे संस्कृत के प्रेमी इसे 'बर्बर संस्कृत' कहें किन्तु यह जीवित संस्कृत है, इसमें भाषापन है।''[4] 'प्रबंधचितामणि' मुख्यत: संस्कृत भाषा का ही ग्रंथ है। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में जो 'प्राकृत' भाषाओं के उदाहरण दिए, उनकी एक संस्कृत-व्याख्या 'दोधकवृत्ति' नाम से मिलती है। इन दोनों स्रोतों से गुलेरी जी ने ऐसे संस्कृत शब्दों की चर्चा की हे, जो देशभाषा के आधार पर गढ़े गए। उनमें से कुछ का उल्लेख किया जा रहा है -

छुप्तवान — देशी शब्द 'छुआ' को आधार बनाकर यह संस्कृत शब्द गढ़ा गया है।

उच्छीर्षक — तकिया या ओसीसा के लिए संस्कृत में गढ़ा गया शब्द

करवडी — दोनों हाथ मिलाकर पानी पीने के लिए जो पात्र-सा बनाया जाता है, उसे करपुटी कहते हैं। आम बोलचाल की भाषा में हम इसे चुल्लू बनाकर पानी पीना कहते हैं। उसी अर्थ में।

सर्वावसर — कुछ अवसरों पर राजा अपने द्वार आम जनता के लिए खोल देता था और सबसे मिलता था। इसी अर्थ के लिए संस्कृत में यह शब्द चलाने का प्रयास किया गया। 'दीवान-ए-आम'।

राजपाटिका — राजमार्ग

धर्मवाहिका — (धर्म के लेखे की) बही।

उद्ग्राहणक — उगाही, उद्गाह्य-उगाहकर, उद्ग्राहित-उगाहा हुआ।

न्युञ्छन्	प्रचलित शब्द है 'न्यौछावर'।
चिंतायक	सम्हालनेवाला, रखवाला (चिंता करने वाला?)
दवरक	प्रचलित शब्द है 'डोरा', उसके लिए संस्कृत में यह शब्द बनाया गया है।
रसवती	रसोई
भेटितः	मिला
पादोऽवधार्यताम्	देशी भाव है 'पधारो' या 'पगु धारो'। संस्कृत में उसकी अर्थछटा उपस्थित करने का प्रयास
मदनपट्टिका	मोम की पट्री, मेण (मोम) का संस्कृतीकृत रूप 'मदन'।
कच्चोलक	राजस्थानी में कटोरी को 'कचोला' या 'कचोली' कहते हैं। उसका संस्कृत रूपांतरण
जीर्णमञ्चाधिरूढ़ः	टूटी खाट पर पड़ा हुआ। क्रोध में अक्सर इस तरह के उद्गार निकलते हैं।
दानी	दंड, राजकर, दाणी, दाण (मारवाड़ी), अवधी में अभी भी 'हर्जाना' के लिए 'डांड़' शब्द प्रचलित है।
कामुक	हिन्दी में इसका दूसरा ही अर्थ प्रचलित है। पर यहाँ यह शब्द 'काम करने वाला नौकर' के लिए गढ़ा गया है। गुलेरी जी के अनुसार हर्षचरित में कार्म (भृतकाः) शब्द आया है, पंजाबी-काम्मा और मारवाड़ी-कामेती।
छिम्पिका	छींपी (वस्त्र रंगनेवाली जाति)
निजतनक गृह	अपना घर (तणा, तणु, या तणु-मारवाड़ी गुजराती 'का')
व्याघुटन्ती	लौटती हुई, मारवाड़ी-बावड़ना, पंजाबी-बौढ़ना, व्याघुटितु - लौटने को
वासण	भांडे, रूपयों की थैली (वासणी) के अर्थ में यह संस्कृत शब्द रचा गया। बर्तन के लिए अभी भी 'बासन' शब्द प्रयोग में आता जैसे चौका - बासन।
उत्तेजितं निर्माप्य	उत्तेजित करवाकर, शान चढ़ा हुआ।
संग्रहणी	वेश्या के अर्थ में।

पट्टकिल	पट्टक (जिले) का प्रबन्धक, पटैल या पटेल। उत्तर भारत में अब यह एक जाति का भी प्रचलित नाम है।
सेजवाली	पालकी
समारोपयत्	सौंप दिया के अर्थ में।
पादौ त्यजसि	देशभाषा में एक मुहावरा है - पाँव छोड़ता है अर्थात् डरकर भागता है, उसी भाव में।
आरात्रिकमुत्तार्य	आरती उतारकर
तत्पट्टकं विपाट्य	राजकर लेने के लिए पहले पट्टे प्रचलित थे। राजकर माफ करने का
मुमोच	एक तरीका यह होता था कि पट्टा फाड़कर राजकर छोड़ दिया जाता था। उसी अर्थ को व्यंजित करने के लिए यह संस्कृत प्रयोग किया गया है।
मारि	मारना, अमारि-अभय।
युगलिका	डाक चिट्ठी, गुलेरी जी के अनुसार दो हरकारे साथ दौड़ते थे इसलिए युगलिका।
वप्ता	बाप, वप्ता का संस्कृत अर्थ बताया गया - बीज बोने वाला।
फुल्लावयिष्यसि	फुलावेगा, फूल उपजावेगा।
कर्तुलग्न	करने लगा, इस अर्थ में प्रयुक्त।
कालं कुर्वीत्	देशभाषा में मरने के अर्थ में एक मुहावरा प्रचलित हैं 'काल करना'। इसी भाव को संस्कृत में लाने की कोशिश।
डुब्बिअउ	'पुरानी हिन्दी में डूबना के अर्थ में प्रयुक्त, गुलेरी जी कहते हैं कि संस्कृत धातु ब्रुड है पर वह देशी से बनाया जान पड़ता है। हिन्दी में डूबना और बूड़ना दोनों रूप हैं। (इस शब्द की चर्चा उदाहरणों के प्रसंग में की गई है।
लगित्वा	लगाकर (लाइ), लगकर (लग्गि) के अर्थ में।
बलिं क्रिए	प्रचलित मुहावरा है 'बल जाति हूँ' या 'बलि जाती हूँ। पुरानी हिन्दी में बलि किज्जउं।

किं न सृतम्	मुहावरा है 'क्या नहीं सरा'? अर्थात् सब कुछ सिद्ध हुआ। इसी अर्थ को व्यंजित करने के लिए यह संस्कृत पद प्रयोग किया गया है।
उद्वरित	अपभ्रंश 'उव्वरिअ' के समांतर यह संस्कृत शब्द रचा गया। 'उव्वरिअ' का अर्थ है - उबरा, बचा।
विध्यापयति	बुझाता है।
जगटकानि	झगड़े
बिछोट्य	बिछोड़कर
मोटयन्ति	पुरानी हिन्दी का शब्द है मोडंति। अर्थ है मोड़ते हैं। इसकी व्यंजना के लिए गढ़ा गया संस्कृत शब्द
ठक	ठग; यह निश्चित नहीं है कि प्राकृत या देशभाषा के 'ठग' को संस्कृत में 'ठक' बनाया गया है या 'ठक' से 'ठग' बना है। (बनारसी ठग नामक लेख में।

इन शब्दों के अर्थ निर्धारित करने के कोई भी प्रयास स्वयं ही निरर्थक होंगे यदि वे देशभाषा और संस्कृत के इस सम्बन्ध को ध्यान में न रखेंगे। गुलेरी जी ने जोर देकर कहा है कि संस्कृत (और प्राकृत भी) समय-समय पर देशी के इस अक्षय भंडार से शब्द लेती रही हैं। यहां भी वे कहते हैं कि ''धातुओं की अनंतता, आकृतिगण और उणादि की अक्षय निधि से सम्पन्न वे विद्वान जो मा धातु से डियां, डुलेक, डौलाना प्रत्यय बनाकर मियां, मुलुक, मौलाना सिद्ध कर लेते हैं या हमारे आचार्यदेशीय सुग्रहीतनामा सर्वतंत्रस्वतंत्र सतीर्थ्य जो 'जयौ जयशीलौं उरु यस्याः सा जयोरु = जोरु (स्त्री) बनाते हैं, उन्हें इन उदाहरणों में कुछ चमत्कार न जान पड़े किन्तु ये देशभाषा से गढ़े हुए संस्कृत के उदाहरण हैं। कितना ही बांध दो जल तो नीचे की ओर रिसता ही है। देशी शब्द और वाग्धारा संस्कृत के लिए अछूत न थी, संस्कृत में इतना लोच था कि उन्हें अपना लिया करती।[5]

यह भी ध्यान देने की बात है कि एक भाषा में दूसरी भाषा की छाया देखते ही उसे पहचान लेना आसान नहीं है। इसके लिए दोनों भाषाओं का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है।

भाषा में व्याकरण स्थिर होता है और शब्द अपेक्षाकृत गतिशील। इसीलिए जब दो संस्कृतियां संपर्क में आती हैं तो उनमें शब्दों का आदान-प्रदान सबसे तेजी से होता है। भाषा

के अध्येता इन शब्दों के इतिहास-भूगोल के माध्यम से इस सांस्कृतिक सम्पर्क को लक्षित करते हैं। ऐसे शब्दों का विस्तार हमारे खान-पान से लेकर अध्यात्म तक है। इस दाय को विद्वानों ने स्वीकार भी किया है 'जो आया उससे हमने कुछ ले लिया' क्योंकि 'पुराने हिन्दू कृतघ्न और गुरुमार नहीं थे। कि सबकुछ वेद में ढूंढ़ लें।'[6] यह भाषा का स्वभाव है, इसके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। ऐसे प्रयासों की चुटकी लेते हुए गुलेरी जी कहते हैं कि मुसलमान आये तो कौन सी बाबू श्यामसुन्दर की कमिटी बैठी थी कि सुलतान को सुरत्राण कहो और मुगल को मुङ्गलः तो भी संस्कृत में सब ऐसा प्रयोग करने लगे।

'मारेसि मोंहि कुठाऊँ' में ऐसे ही शब्दों के माध्यम से आर्यसमाज के पवित्रतावादी रवैये पर कटाक्ष किया गया है। 'पुराना ब्यौपार' में दिखाया गया है कि रोजमर्रा हम जो चीजें प्रयोग करते हैं वे सांस्कृतिक आदान प्रदान का ही तो उदहारण है। 'ऐसी चीजों के नामों में इतिहास का बीज छिपा हुआ पड़ा है।'[7] आगे गुलेरी जी द्वारा लक्षित ऐसे ही कुछ शब्दों की चर्चा की गई है-

'उपरिलिखत', 'उपर्युक्त' (उपरोक्त), 'निम्नलिखित', 'अधोनिर्दिष्ट' - गुलेरी जी लक्षित करते हैं कि ये शब्द अंग्रेजी के प्रभाव से प्रचलन में आए हैं। कागज में लिखते-लिखते ऊपर से नीचे को आते हैं इससे यह तरीका अपनाते हैं। इसकी विपरीत संस्कृत में 'उपरिष्टाद वक्ष्यामः' (ऊपर कहेंगे) का अर्थ होता है आगे कहेंगे और 'इति प्रतिपादिमधस्तत्' का अर्थ है पहले कहा जा चुका है। क्योंकि संस्कृत में लेख या प्रतिपादन के लिए वृक्ष का उपचार है जो नीचे से बढ़ते-बढ़ते ऊपर को चलता है। इस तरह नीचे का ऊपर हो रहा है और ऊपर का नीचे। ''यह उलटी गंगा भिन्न भाषाओं की संसृष्टि का अच्छा उदाहरण है।''

असुर	यह शब्द असीरिया वालों के प्रभाव से ग्रहण किया गया। उनके यहां इसका अर्थ था प्राण वाला, जबरदस्त। कभी इंद्र की भी यही उपाधि थी। बाद में इस शब्द का अर्थ बुरा हो गया।
पण्	संस्कृत में इस धातु का अर्थ होता है लेन-देन करना, व्यापार करना। यह पणियों या फिनीशियन व्यापारियों के प्रभाव से प्रचलन में आया। कहते हैं कि ऐसा कोई पणि ऋषि भी हो गया और पाणिनि उसी का पोता था।
छत्रप, क्षत्रपावन या महाक्षत्रप	ये सूबेदारों की उपाधियां हैं जो पारसियों के प्रभाव से चल पड़ी। कुश्वाश्व, श्यावश्व वृहदश्व आदि राजाओं और ऋषियों के नाम भी पारसी प्रभाव से ही चलते।

मेष, वृष, मिथुन आदि राशियां	ज्योतिष में यवनसिद्धांत आदर योग्य माना गया है। ये नाम भी यूनानी नामों के आधार पर रखे गए हैं।
त्रातार	राजाओं की यह उपाधि यवन उपाधि 'सोटर' का रूपांतरण है।
गान्धारी	गान्धार प्रदेश में बालवाली मेड़े पाई जाती थीं, इसलिए उन्हें 'गान्धारी' कहा जाने लगा। दुर्योधन की माता का नाम तो गान्धारी था ही।
बाल्हीक	केसर और हींग के लिए प्रचलित नाम। क्योंकि ये बल्ख प्रदेश से सम्बन्ध रखते थे। केसर के लिए 'काश्मीर' नाम भी मिलता है।
पारसीक, काम्बोज वनायुज, बाल्हीक	इन शब्दों का प्रयोग घोड़े के अर्थ में किया गया है। इन क्षेत्रों के घोड़े अच्छे माने जाते रहे होंगे।
गौर्वाहीक	बेवकूफ, बौड़म के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। पंजाब में किसी समय बसी वाहीक नामक जंगली जाति के नाम पर।
निष्क, द्रम्म और दीनार	सोने के सिक्कों के लिए पारसी शब्द। भारत में भी प्रचलित रहे।
सुरत्राण	'सुलतान' को संस्कृत बना लिया गया।
हम्मीर	'अमीर' शब्द से
मुङ्गल	मुगल
मसीतिः	मस्जिद
निर्वाण	पहले इस शब्द का अर्थ था दिये का बिना हवा के बुझना। बौद्धों ने इस शब्द का अर्थ 'मोक्ष' किया।
देवानां प्रिय	गुलेरी जी मानते हैं कि पहले साधारण बोलचाल में 'देवानां प्रिय' का अर्थ होता था श्रीमान्, आप, जनाब, हुजूर या सरकार आदि। बाद में ये 'मूर्ख' के लिए प्रचलित हुआ। 'बौद्धों ने अशोक के साथ इसे उपाधि रूप में लगाकर पवित्र कर दिया।

'पुराना ब्यौपार' में ऐसी वस्तुओं का जिक्र है, जिनके नाम के साथ उनके निर्यात करने वाले देश की स्मृतियां जुड़ी हैं –

चीनपिष्ट चीन का पीस हुआ चूर्ण। यह सिन्दूर का संस्कृत नाम है।

चीनांशुक रेशम

चीनी (खांड), **चीनी मट्टी, चिनिया बदाम** (मूंगफली) और **दालचीनी** के साथ भी चीन का नाम जुड़ा है। गुलेरी जी कहते हैं कि 'मालूम होता है जैसे आजकल कोई भी अनोखी चीज 'विलायती' कहलाती है वैसे (पहले) बाहर की चीजें, 'चीनी' कहलाती रही हों।'

जावित्री, जवामिरच ओर **जवा हरड़** - जावा द्वीप का नाम जुड़ा है।

लाल मिर्च को राजपूताने में **'प्रितकाली'** या **'प्रुतकाली'** कहते हैं, जो पुर्तगाली से बना शब्द है और लाल मिर्च को भारत लाने वाले स्रोत की ओर संकेत कर रहा है। (बंगाल में लाल मिर्च के लिए **'लंका'** शब्द प्रचलित हैं)

सैंधव - नमक

चंग - पतंग उड़ाने का पुराना नाम

गुलेरी जी कहते हैं यह कौन नहीं जानना चाहेगा कि **बालूशाही, मानिकचन्दी सुपारी, सलेमशाही जूतों** से किस बालूशाह, मानिकचन्द और सलेमशाह ने अमरता पाई, आदि।

एक भाषा को लिखने बोलने वाला जब दूसरी भाषा में अपने हाथ आजमाता है तो पहली भाषा से जुड़े मुहावरों, संस्कृति और वाक्य के ढांचे आदि की छाप पड़ती ही है। **'पंडिताऊ हिंदी', 'बाबू इंगलिश', 'योरोपियन संस्कृत', 'पारसी संस्कृत'** और **'यूनानी प्राकृत'** के माध्यम से इस ओर संकेत किया गया है।[8]

वस्तुतः गुलेरी जी इन शब्दों के द्वारा लोकमानस को पढ़ने का प्रयास करते हैं। लोकमानस कैसे कुछ स्मृतियों को सुरक्षित रखता है, शेष को बिसार देता है। कैसे बार-बार सही अर्थ बताए जाने पर भी वह अपनी ही राह चलता जाता है, अपना नया अर्थ निर्मित कर लेता है - यह सब गुलेरी जी की रूचि का विषय रहा है। ऐसी रूचि वाले के लिए देशभाषा से उपयुक्त क्षेत्र क्या हो सकता है। खड़ीबोली, ब्रज, अवधी, राजस्थानी के साथ-साथ गुलेरी जी ने गुजराती, मराठी, पंजाबी और बंगला के देशज शब्दों की भी स्थान-स्थान पर चर्चा की है। और जाहिर है कि पोथी पढ़-पढ़ कर विद्वान हुआ व्यक्ति तो ऐसा करने से रहा। इसके लिए लोकजीवन का सूक्ष्म निरीक्षण आवश्यक है।

हेमचन्द्र की 'देशी नाममाला' में भी गुलेरी जी को ऐसा ही अवसर दिखा है। 'कुछ पुराने रिवाज और विनोद'[9] नाम के लेख में देशी नाममाला के कुछ ऐसे ही शब्दों की चर्चा है। यहाँ उनमें से कुछ को उद्धृत किया जा रहा है। (ये शब्द उस समय के रीति-रिवाज और विनोद आदि के सूचक हैं।)

अंवेट्टी मुट्ठी का जुआ (बुझौवल)

आणंदवड पति के प्रथम यौवन हरण होने पर स्त्री का रूधिर से छिंटा वस्त्र। वह बांधवों को आनंदित करता है इसलिए आनंदपट कहा जाता है। (गुलेरी जी के अनुसार उनके समय में भी कई जातियों में यह रस्म थी कि ऐसे वस्त्र में मिठाई रखकर बिरादरी में बाँटी जाती थी)

ओलुंकी छिपने का खेल (आंखमिचौनी)

गंजोल्लिअ हँसी के स्थान में अंग स्पर्श, जो लोक में 'गिलगिलाविअ' ऐसा रूढ़ है (गिलगिली चलाना)

दुद्धोलणी जो गाय एक बार दुही जाकर फिर भी दुही जा सके।

बहुमास जब नई विवाहिता स्त्री के घर से पति बाहर न जाय वहीं रमण करता रहे वह विशेष रीति या उत्सव (हनीमून!)

संवाडअ अंगूँठे और बीच की अंगुली से चुटकी बजाना

हिंचिअ, हिंविअ एक टाँग उठा कर एक ही से चलने का बच्चों का खेल।

बहुहाडिणी एक स्त्री के 'ऊपर' जो दूसरी स्त्री लाई जाय। आदि।

पुरानी हिन्दी के दोहों की चर्चा करते समय भी गुलेरी जी ऐसे ही कई शब्दों की तरफ आकर्षित हुए हैं यथा -

चउद्दसीजाओ यह एक दुलर्भ मुहावरा है, जिसका अर्थ है चौदसी का जाया या चतुर्दशी के दिन जनमा हुआ। यह बड़े भाग्यवान और पराक्रमी के अर्थ में आया है और कुछ-कुछ इस अर्थ में भी कि 'जिसने माँ का दूध पिया हो।'

छप्पन्ना यह शब्द नाई के लिए प्रयोग में आता है (जैसे छत्तीसा), गुलेरी जी कहते हैं कि इसका अर्थ छः बुद्धिवाला (सं षटप्रज्ञ) है। 'षटप्रज्ञ' बुद्ध की उपाधि भी है।

श्रद्धा / सरधा यह भक्ति या विश्वास के अर्थ में प्रचलित है। मूल अर्थ है श्रत् + धा : श्रत रखना = भरोसा रखना, बल समझना, अभिलाषा। मारवाड़ में 'सरधा' शब्द प्रचलित है जैसे दम्पति आपस मे सरधा का सम्भाषण करते हैं या कोई कहे कि मेरी काम करने की सरधा नहीं है। (अपने व्यक्तिगत पत्रों में गुलेरी जी स्वयं भी ''माँ को प्रणाम, बच्चों को प्यार और पत्नी को श्रद्धा'' लिखते थे।)

संस्कृत में एक शब्द है 'दोहद-दौहृद-बिगड़ा हुआ दिल-जी मिचलाना। यह प्राय: गर्भवती स्त्रियों के संदर्भ में आता है। 'सरधा' गर्भवती स्त्री की इच्छा के अर्थ में भी आता है। 'साध' इसी से बना है।

इसके उदाहरण रूप में उन्होंने एक प्राकृत-गाथा उद्धृत की है -

''दुग्गयघरम्मि घरिणी रक्खन्ती अजलत्तणं पइणो
पुच्छियदोहल सद्धा उपयं चिय दोहलं कहइ।।
(दुर्गत घर में गृहिणी, पति व्याकुलता बचाने को।
दोहद-सरधा पूछैं, जल ही साध बतलाती।।)

दिन बुरे आ गए हैं। घर में दरिद्रता पसर गई है। गृहलक्ष्मी के गर्भ है। पति पूछता है कि तेरी क्या सरधा है। काहे पर मन चलता है। पति की दशा जानकर वह कहती है कि मेरी सरधा पानी ही पर है। कवि ने कितना कह डाला।। और जो न कहकर भी कह दिया वह कितना है!!!''

गुलेरी जी का एक लेख है 'अमंगल के स्थान में मंगल शब्द', जो पहली बार मई 1915 ई. में सरस्वती में प्रकाशित हुआ था।[10] साधारण बोलचाल में अमंगल या अश्लील शब्दों की जगह मंगलकारक और अच्छे शब्दों का प्रयोग किया जाता है और संदर्भ से अर्थ वही बना रहता है। इस लेखक में ऐसे ही शब्दों की चर्चा है। यथा -

'दिया बुझ गया' के स्थान पर **'दिया बुत गया'**, **'दिया नंद गया'**, **'दिया बड़ा हो गया'**, **'दिया ठण्डा हो गया'** या **'दिया बढ़ गया'** कहते हैं क्योंकि **'बुझना'** मृत्यु का भाव सूचित करता है। 'जलना' अमंगलसूचक है, उसका सम्बन्ध शवदाह से माना जाता है, इसलिए राजस्थान में 'होली जल गई' को **'होली मंगल गई'** कहते हैं।

चूल्हा 'जलाते नहीं, चूल्हा 'बालते' या 'जगाते' हैं।

मरने को 'शान्त होना' या 'चल बसना' कहा जाता है।

'पानी देना' तर्पण का सूचक है इसलिए पानी पिलाना ही व्यवहार में आता है।

दुकान बन्द होने से दिवाला निकलने या कारोबार बन्द होने का अर्थ ध्वनित होता है इसलिए **'दुकान बढ़ाना'** या **'किवाड़ बढ़ाना'** प्रचलित है।

'घड़ा फूट गया' अमंगल वाचक है इसलिए 'घड़ा उतर गया' या 'घड़ा बिखर गया' प्रयोग किया जाता है।

'चूड़ी टूटना' वैधव्य का सूचक है। इसलिए चूड़ी मौल जाती है, 'मुरक' जाती है या 'बढ़' जाती है।

दिवाकीर्ति - बाल मुंड़ाने का संबंध मरण से भी होता है। इसी अशुभ चर्चा से रात को क्षौर या नापित का नाम नहीं लिया जाता और संस्कृत कोशों में नाई का नाम 'दिवाकीर्ति' हो गया है।

अमंगल, कटु या दुर्भावसूचक शब्दों के लिए कोमल पदों का प्रयोग किया जाता है, जैसे

वेश्या	सदासुहागिन
व्याभिचारिणी	महासती
उल्लू	रात का राजा
हड्डी	महाशंख
चर्बी	महातैल
मनुष्य-मांस	गोमांस-महामांस
यम	महावैद्य
श्मशान यात्रा	महायात्रा
यमलोक का मार्ग	महामार्ग
मृत्यु	महानिद्रा

चोरों की भाषा में जेल का नाम 'बड़ा घर' या 'ससुराल' है।

हत्, तेरा भला हो, तेरा वंश बढ़े - इन गालियों में भले का अर्थ बुरा और बढ़ने का अर्थ नष्ट होना है।' आदि।

कुछ अनर्थक शब्द ऐसे होते हैं जो दूसरे शब्दों के अनुकरण पर गढ़े जाते हैं और इस संबंध से ही उनमें अर्थ की सृष्टि होती है, उदाहरण के लिए

पिंगल-डिंगल - हिंदी में एक समय यह बहुत प्रचलित विवाद था। गुलेरी जी कहते हैं कि पिंगल तो छन्दशास्त्र का नाम हैं और 'डिंगल' नाम से रूढ़ कविता के छंद भी 'पिंगल' सूत्रों में लिखे छंदों में अंतर्भूत हो जाते हैं। फिर? हुआ यह कि लक्षणशास्त्र और लक्ष्य रचना के अभेदोपकार से हिंदी-कविता 'पिंगल' कहलाने लगी। इससे भेद दिखाने के लिए राजपूताने की प्राचीन कविता को, जिसमें देशी अपभ्रंश अधिक आते हैं और कर्कश शब्दों का अधिक प्रयोग होता है, डिंगल कहा जाने लगा। 'डिंगल' शब्द 'पिंगल' के अनुकरण पर गढ़ा गया हैं

कँवर-भँवर-तँवर - कुमार से 'कुँवर' और उससे 'कँवर'। यदि पिता जीवित है तो राजपूतों आदि में कँवर ही लगाया जाता है 'ठाकुर' नहीं। ऐसे में दादा के सामने पोते को 'भँवर' कहते हैं। इसका 'भ्रमर' शब्द से कोई संबंध नहीं है यह केवल 'कँवर' से भेद करने के लिए मिलता-जुलता शब्द है। वैसे ही पड़दादा के जीवित रहते दुलर्भ पड़पोते के 'टँवर' या 'तँवर' कहते है।

'दस्सा' और बीसा - ये जातियों के विभाग हैं। 'दस्सा' का अर्थ है 'दासी का पुत्र'। इस वास्तविक अर्थ को न समझते हुए 'दस्सा' को संख्यावाचक मानकर दूसरी जाति ने अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए 'बिस्सा' नाम रख लिया।

रूक्का-सुक्का : 'रूक्का' का अर्थ है पत्र। जो किसी अधिकारी द्वारा अपने से नीचे के अधिकारी को लिखे पत्र के अर्थ में रूढ़ हो गया है। वह नीचे वाला अधिकारी जब अपने से नीचे के अधिकारी को लिखे तो वह पत्र 'सुक्का'।

पंजाबी सारस्वतों की पंचजाति है-कुमड़िये, जैतली, झिंगण, तिक्खे और मोहले। इनसे भेद दिखाने के लिए कुछ जातियों के नाम लुमड़िये, पेतली, पिंगण, पिक्खे और बोहले चल पड़े। इन पदों का स्वयं में कोई अर्थ न था।[11]

कभी-कभी 'लोक' में स्वयं ही कोई अर्थ मान्यता पा जाता है और कुछ मुहावरों के तो संदर्भ भी अब किसी को याद नहीं। ऐसा ही एक मुहावरा हैं **'झख मारना'**। गुलेरी जी कहते हैं कि 'मुहाविरा पुराना है। काम भी अच्छा है। बड़े-बड़े करते हैं। पर अर्थ क्या है? किसी ने झख = झष = मछली अर्थ किया। पर गुलेरी जी राजपूताने के किसी पुराने शिकारी का अर्थ उद्धृत करते हैं - ''पहले जमाने में एक पन्ना मोर होता था। 'पन्ना मोर' इसलिए कहलाता था कि

नर के गले में पन्ना निकलता था। मादीन (मादा) 'झख' कहलाती थी, नर के सदृश ही होती थी पर उसके गले में पन्ना न निकलता था। जो जल्दबाज शिकारी इन गज-मुक्ताओं के भाई पन्नों को पाने की उतावली में मादा को मार बैठता और फिर पछताता कि 'झख मारी'। यों यह वाक्य चल पड़ा।

ऐसे ही कुछ शब्दों में गलत व्युत्पत्ति मान लेने से उनके अर्थ में गड़बड़झाला हुआ। यथा-

सीसोदिया यह महाराणा प्रताप के वंश का नाम था। सीसोदा गांव से संबंध होने के कारण वे 'सीसोदीया' कहलाए। पर लोगों ने व्युत्पत्तियाँ गढ़ लीं कि (1) मद्यपान के प्रायश्चित में जलता हुआ सीसा पीने से, और (2) देशसेवा में सीस देने से यह नाम चला।

महरठा 'महरठा-शब्द महाराष्ट्र' (महान राष्ट्र, बड़ो देश) से बना है और व्यत्यय से मरहठा हो गया। पर लोगों ने व्युत्पत्ति कर ली कि लड़ाई से मरकर ही हटते थे, इसलिए मरहटे' कहलाए।

वाराणसी गुलेरी जी कहते हैं कि 'वाराणसी का अर्थ वर + अनस्' होता है (अच्छे रथों वाली) पर किसी ने वरणा + असी नदियों से इस अर्थ की कल्पना की और किसी ने 'रस बना' होने से बनारस मान लिया।[12]

कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनके अर्थ, संदर्भ और परम्परा-प्रवाह से बदल जाते हें, जैसे -

यंत्रक / यंत्र संस्कृत में **'यंत्रक'** का अर्थ है - चरखा, बड़े-बड़े पत्थर फेंकनेवाला तोप जैसा यंत्र, घिर्रियों वाली डोरी आदि।

इसके अपभ्रंश **'जंदरा'** का अर्थ पंजाबी में हुआ-ताला। **जंत्रित**-ताले में बंद हिंदी में **'जंतर'** शब्द आया, जिसका अर्थ भूतप्रेतादि से बचाने वाले लिखित वर्ण या रेखा निवेश हुआ। बंगला में **'जांता'** आटा पीसने की चक्की हो गई।

देवकुल

देवपूजा पितृपूजा से चली है। मंदिर का सबसे पुराना नाम चैत्य है, जिसका अर्थ चिता (दाहस्थान) पर बना हुआ स्मारक है। जैसे बौद्ध स्तूप और चैत्य आदि पहले स्मारक थे फिर पूज्य हो गये। देवकुल से 'देवल' (प्राकृत) बना है, जैसे 'राजकुल' से 'रावल'। देवकुल पद देवमंदिर का वाचक भी है तथा मनुष्यों के स्मारक चिह्न का भी। 'देवल' या 'देवली' मंदिर के अर्थ में भी प्रयोग होता है और सतियों, वीरों के स्मारकों समाधि-स्थलों को भी देवल, देवली और देउली कहते हैं।[13]

षट्भाषा

षट्भाषा को लेकर काफी अटकलें लगाई गई। किसी ने अरबी को इसमें शामिल माना तो किसी ने अवधी, राजपूतानी और पंजाबी आदि को। गुलेरी जी ने स्पष्ट किया कि सप्तद्वीप, पंचमकार की तरह षट्भाषा भी कवियों का टकसाली शब्द है। षट्भाषा शब्द संस्कृत-प्राकृत शौरसेनी, मागधी, पैशाची और देशज, इन 6 भाषाओं वे अर्थ में रूढ़ है, समय के साथ-साथ बदलता नहीं है।[14]

आयु

पुरानी पोथियों में लिखावट के चारों तरफ जो हाशिया छूटा रहता था, उसे भी आयु कहते थे। क्योंकि जितनी यह आयु बड़ी होती उतनी ही पुस्तक की आयु कीड़े आदि के आक्रमणों से बचती थी।

कुशीलव / लव-कुश

गुलेरी जी कहते हैं कि कुश ओर लव संस्कृत-साहित्य में बड़े विरले से नाम हैं यदि दो भाइयों के नाम कुश ओर लव हों तो उन्हें 'कुशलवौ' कहा जाएगा। पर मैथिली के कुमारों के लिए 'कुशीलवौ' रूढ़ है। संस्कृत में कुशीलव का अर्थ है 'गाने-बजाने में कुशल, कीर्ति संचारक, नट, चारण या गायक'। 'वाल्मीकि रामायण' के पहले किसी ग्रंथ में गवैयों के अर्थ में 'कुशीलव' शब्द नहीं आया। इससे यह संभावना बनती है कि दोनों भाई कुशीलव इतने बढ़िया गायक थे कि उनके पीछे गवैयों भर का नाम कुशीलव हो गया। विशेष संज्ञा-नामों से साधारण गुणनाम बन ही जाते हैं, जैसे एक 'कादम्बरी' उपन्यास के पीछे मराठी भाषा में उपन्यास मात्र का नाम कादम्बरी' चल पड़ा। सभी अंधो को सूरदास कहना और 'भगीरथ प्रयत्न' जैसे शब्द ऐसे ही प्रचलन में आए। 'ढोला' नाम के किसी प्रेमी से राजपूताने में सभी प्रेमी ढोला कहलाने लगे।

अगर 'कुशीलव' शब्द पुराना है तो इसकी भी संभावना है कि दो चतुर बालक कुशीलव (गवैये) अयोध्या में आए हों और पहचान होने पर राजपुत्र मान लिए गए हों। उनका नाम किसी को मालूम नहीं था। उसी 'कुशीलव' नाम से कुश और लव नाम चल पड़ा हो। पीछे कुश और लव के नामकरण से जुड़ी और कई कहानियां चलीं। जैसे वाल्मीकि ने उनके गर्भ क्लेशों को कुश ओर लव (गोपुच्छ) से मिटाया इसलिए ये नाम रखे गए। एक कथा के अनुसार लव के खो जाने पर मुनि ने कुश पर छींटा मारकर दूसरा बालक बना दिया। इस कथा में ज्येष्ठ कुश कनिष्ठ हो गया है।[15]

वैसे 'भाषा और समाज' में रामविलास शर्मा ने लिखा है कि कश्मीरी भाषा में 'कुश' के समान 'लव' भी सूखी घास को कहते हैं, जो पशुओं को खिलायी जाती है।[16]

वस्तुतः शब्द यायावर होते हैं उन्हें किसी एक सीमा मे बांधा नहीं जा सकता। उनकी चहलकदमी एक भाषा से दूसरी भाषा, एक देश से दूसरे देश और एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति तक चलती रहती है। और इस तरह वे पूरी मानवता की संपदा हो जाते हैं। 'शब्द-कौस्तुभ' का विश्लेषण करते हुए गुलेरी जी इसी सत्य को रेखांकित करते हैं। अर्थ निरूपण और व्याख्या के प्रयास में अक्सर ही वे साहित्य, इतिहास, पुराण, लोकगाथाओं और जनश्रुतियों का एक चक्कर लगा आते हैं। यहाँ उस कला का प्रारंभिक प्रयास देखने को मिल सकता है, जिसका पूरा ठाठ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में विद्यमान है। ध्यान से देखने पर शायद द्विवेदी जी के 'गप्प' की एक हल्की सी झलक भी यहाँ दिख जाए।

संदर्भ

1. इसके अतिरिक्त गुलेरी जी कण्ठा, एक ब्राह्मण, स्पष्टवक्ता, समालोचक, चिट्ठीवाला, सनातनी और घरघूमन दादा आदि छद्म नामों से भी लिखते थे। देखें-गुलेरी रचनावली, भाग-1, सं. मनोहरलाल, जगतराम एण्ड संस, पृ.31, भूमिका
2. वही, पृ.305
3. गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.33
4. वही
5. वही, प.35
6. 'मारेसि मोहिं कुठाऊँ', गुलेरी रचनावली, खण्ड-1, पृ.103-106 इस लेख का प्रथम प्रकाशन, प्रतिभा, 1920 ई. में हुआ।
7. देखें गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.296-297
8. देखें गुलेरी जी के लेख 'योरोपियन संस्कृत' और 'यूनानी प्राकृत'। गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ. 168-170 और 170-173
9. देखें गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.200-203
10. देखें गुलेरी रचनावली, भाग-1, पृ.115-119
11. अनुकरण पर बने शब्दों के लिए देखें, 'डिंगल' (प्रथम प्रकाशन - नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 1922 ई.), गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.165-166
12. उपरोक्त तीनों के लिए देखें लेख 'बनारसी ठग', गु.र. भाग-2, पृ.182
13. 'देवकुल' गुलेरी जी का एक लम्बा लेख है, देखें गुलेरी रचनावली, भाग-1, पृ.120-129
14. देखें 'जालहंस की सुभाषितमुक्तावली और चंद की षट्भाषा', गुलेरी रचनावली, भाग-2, पृ.191
15. देखें गुलेरी जी का लेख 'संगीत', गुलेरी रचनावली, भाग-1, पृ.301-308
16. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, पृ.211

उपसंहार

हिन्दी साहित्य के आरंभ के सवाल पर प्राय: साहित्य का इतिहास भाषा के इतिहास से टकराता रहा है। साहित्यकार और इतिहासकार यह मानते चले आ रहे थे कि अपभ्रंश और हिन्दी का परम्परागत संबंध है, लेकिन हिन्दी में उस संबंध के विवेचन का कोई विशेष प्रयास न हुआ था। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिन्दी' में पहली बार इस संबंध का गम्भीर विश्लेषण किया। परवर्ती अपभ्रंश की रचनाओं को जब शुक्ल जी ने व्यवस्थित और तर्कानुमोदित ढंग से 'आदिकाल' के अंतर्गत ग्रहण किया तो गुलेरी जी के अध्ययन का भी उपयोग किया। बाद में भी ऐसे प्रयास कम ही हुए जिनमें सहमति या असहमति पूर्वक 'पुरानी हिन्दी' का नामोल्लेख न हुआ हो। इसलिए गुलेरी जी की इस रचना का महत्व सिर्फ प्राथम्य की दृष्टि से ही नहीं है।

गुलेरी जी संस्कृत के पंडित थे। और भी बहुत सी भाषाएं जानते थे। पर कभी भी वे शास्त्रबद्ध होकर नहीं रहे। उनका भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण लोकोन्मुखी चरित्र का है। भाषा उनके लिए एक प्राकृतिक नदी की तरह है। जब उसे परिनिष्ठित बनाने का प्रयास होता है और उसे व्याकरण से बांध दिया जाता है तो वह अपनी स्वाभाविकता खोकर कृत्रिम नहर हो जाती है। लेकिन भाषा अपने जल-स्वभाव से प्राकृतिक प्रवाह का मार्ग ढूंढ़ ही लेती है। गुलेरी जी के भाषा-चिंतन को समझने के लिहाज से यह रूपक विशेष महत्व का है। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की परम्परा में उनका जोर प्राकृतिक प्रवाह पर ही है। हर जनभाषा समय के प्रवाह के साथ नियमों से बांध दी जाती है और किताबी-साहित्यिक भाषा बनकर रह जाती है। और तब जनभाषा का अगला रूप उसका स्थान ले लेता है। साहित्यिक भाषा और जनभाषा के सम्बन्ध की यह पहली पर्त है। दूसरी पर्त यह है कि साहित्यिक भाषाओं विशेषकर 'क्लासिकल' भाषाओं की छाया परवर्ती भाषाओं पर पड़ती रही है। प्राकृत का ढांचा संस्कृत के आधार पर ही गढ़ा गया। 'तत्सम' शब्दावली के प्रति आग्रह समय-समय पर प्रकट हुआ है।

गुलेरी जी यह मानते हैं कि एक समय में एक ही पुरानी मानक भाषा साहित्यादि में प्रचलित रही। क्रमश: संस्कृत, महाराष्ट्री प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी ओर हिन्दी को यह सम्मान मिला। इन मानक भाषाओं में क्षेत्रीय भेदों का आभास देने वाली कई भाषाएं कृत्रिम रूप से रची गई। जैसे द्राविड़ी ओर शकारी अपभ्रंश आदि। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि साहित्य-ग्रंथों में प्राप्त प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के इन नमूनों को देशभाषा या जनभाषा

मानने की गलती न करनी चाहिए। इस तरह के उदाहरण व्याकरण से अतिशय संचालित हैं और प्रायः पुराने मानकों को ध्यान में रखकर गढ़े गए हैं। इसलिए देशभाषा सदैव ही साहित्यिक भाषा से आगे बढ़ी हुई होती है। भाषा के इस प्रवाह को वे हमेशा 'विकास' ही मानते हैं, क्षय या ह्रास नहीं।

जहां तक भाषा और व्याकरण का सम्बन्ध है गुलेरी जी के लिए भाषा पहले है और व्याकरण बाद में। वे जानते हैं कि जो भाषा प्रचलन में है, व्याकरण सिर्फ उसके संबंध-सूत्रों की तलाश करता है। व्याकरण भाषा के लिए नए नियम नहीं गढ़ सकता। व्याकरण पर भाषा की इस प्रधानता को स्वीकार करना वस्तुतः शास्त्र पर लोक की प्रधानता को स्वीकार करना है। क्योंकि अन्ततः शब्दों का अर्थ और प्रयोग लोकव्यवहार के ही अधीन होता है, वैयाकरणों के अधीन नहीं। इसलिए शब्दों पर विचार करते समय गुलेरी जी शब्दों की प्रकृति-प्रत्यय संबंधी व्युत्पत्ति पर अधिक ध्यान नहीं देते। वे लोकव्यवहार में प्रचलित उसकी अधिक से अधिक अर्थछटाओं को पकड़ना चाहते हैं। देशी भाषाओं के अगाध भण्डार से मानक साहित्यिक भाषाएं समृद्ध होती रही हैं, यह तथ्य भी लोक और शास्त्र सम्बन्धी उनकी मान्यता को पुष्ट करता है। 'खड़ीबोली' सम्बंधी विचारों में उस समय के वाद-विवाद की स्पष्ट छाप दिखती है। इन सभी मान्यताओं का प्रभाव उनके साहित्यिक लेखन पर भी पड़ा है।

इस तरह भाषा चिंतन के क्रम में गुलेरी जी प्रायः धारा के विपरीत चले हैं। वे देवभाषा से जनभाषा की ओर नहीं बल्कि जनभाषा से देवभाषा की ओर चले हैं। भाषा को व्याकरण के नहीं अपितु व्याकरण को भाषा के आलोक में परखा गया है। 'तत्सम' की अपेक्षा उनकी रूचि 'देशज' में ज्यादा है। ''भाषा वही जो बिना सीखे आवै, जो व्याकरण को अपना दास न बनाकर उसकी दासी बन गई उसे भाषा नहीं कहा जा सकता।'' इन्हीं सब वजहों से वह हिन्दी की अपनी प्रकृति की पहचान कर सके।

वस्तुतः गुलेरी जी का भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण परम्परा को ऐतिहासिक विवेक से परखता है और शास्त्र को लोक की कसौटी पर कसता है। किशोरीदास वाजपेयी और रामविलास शर्मा का भाषा-चिंतन इसकी अगली कड़ी है।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

गुलेरी रचनावली (खण्ड एक और दो) — संपादक - डॉ. मनोहरलाल, जगतराम एंड संस प्रकाशन, 2009 ई.

सहायक ग्रंथ

आर.पिशल — प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, अनु. डा. हेमचन्द्र जोशी, 1958 ई.

आलोक राय — 'हिंदी नेशनलिज्म', ओरिएंट लांगमैन, 2000 ई.

उदयनारायण तिवारी — हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास - भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद 1955 ई., 1961 ई.

एल.पी. तेस्सितोरी — पुरानी राजस्थानी, अनु. नामवर सिंह, वाणी प्रकाशन, 1955 ई., 1998 ई.

कमला प्रसाद (सं.) — भारतेंदु हरिश्चंद्र, 'प्रतिनिधि संकलन', प्रधान सं. नामवर सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2006 ई.

किशोरीदास वाजपेयी — हिंदी शब्दानुशासन, नागरीप्रचारिणी सभा, 1998 ई.

गणेश वासुदेव तगारे — हिस्टॉरिकल ग्रामर ऑव अपभ्रंश, मोतीलाल बनारसीदास, 1987 ई.

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन — भारत का भाषा - सर्वेक्षण, अनु. उदयनारायण तिवारी, प्रकाशन शाखा सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1967 ई.

जोसेफ स्तालिन — मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएं, मूल रूसी संस्करण 1953 ई. परिकल्पना प्रकाशन, 2002

ज्यूल ब्लाख — भारतीय आर्यभाषा, अनु. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दी समिति, 1963 ई., 1972 ई.

नामवर सिंह — हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, लोकभारती प्रकाशन, 2006 ई.

हिन्दी का गद्यपर्व, राजकमल प्रकाशन, 2010 ई.

पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1997

बच्चन सिंह — हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्राकशन, पहला सं.1996 ई., आवृत्ति 2007 ई.

भारत यायावर (सं.) — हिन्दी की अनस्थिरता : एक ऐतिहासिक बहस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 1993 ई.

भोलाशंकर व्यास (सं.) — प्राकृत पैंगलम्, प्राकृत ग्रन्थ परिषद, वाराणसी, 1959 ई.

मस्तराम कपूर — चंद्रधर शर्मा गुलेरी, भारतीय साहित्य के निर्माता, साहित्य अकादमी, प्र.सं. 1988 ई., सं.1999 ई.

मैक्समूलर — भाषाविज्ञान (द साइंस ऑव लैंग्वेज), अनु. उदयनारायण तिवारी, मोतीलाल बनारसीदास, 1970 ई.

रामचंद्र शुक्ल — हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, 2011 ई.

रामविलास शर्मा — भाषा और समाज, राजकमल प्रकाशन, 2002 ई.

भारत की भाषा समस्या, राजकमल प्रकाशन, 1975 ई.

भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा, राजकमल प्रकाशन, 1975 ई.

महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, 1977 ई.

रामस्वरूप चतुर्वेदी — हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती, 1986 ई., 2005 ई.

राहुल सांकृत्यायन, (सं. और पुनरनुवादक) — दोहाकोश - सरहपाद, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 2014 विक्रमी।

वीरभारत तलवार — रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, प्रथम प्रकाशन 2001, सं.2006

शिवप्रसाद सिंह — कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, 1955 ई., 1964 ई.

सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, हिन्दी प्रचारक प्रतिष्ठान, 1958 ई.

शीतिकंठ मिश्र — खड़ीबोली का आंदोलन, नागरी प्रचारिणी सभा, 1956 ई.

शेल्डन पोलॉक — द लैंग्वेज ऑव द गॉड्स इन द वर्ल्ड ऑव मेन: संस्कृत कल्चर एण्ड पावर इन प्रि-माडर्न इण्डिया, परमानेंट ब्लैक, 2007 ई.

सत्यप्रकाश मिश्र (सं.) — प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबन्ध, ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003 ई.

सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या — भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, राजकमल प्रकाशन, प्र.सं.1954 ई., सं. 2004 ई.

हजारीप्रसाद द्विवेदी — हिन्दी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, 2008 ई.

हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, मूल सं.1952, आवृत्ति 2007 ई.